सैद्धान्तिकी

समय–समाज के संदर्भों की शोध–पत्रिका

संपादक

डा. व्रज कुमार पाण्डेय

डा. दीपक कुमार राय

अलका पब्लिकेशन्स

448, पॉकेट–5, मयूर विहार, फेज–I

दिल्ली–110091

वर्ष : 7 **अंक :** 1 ❑ जनवरी–मार्च, 2014

सैद्धान्तिकी

सैद्धान्तिकी भारत में समाचार पत्रों के निबंधक (आर.एन.आई.) द्वारा अनुमोदित है।

संरक्षक: डा. नवल किशोर
डा. पी. एन. सिंह
डा. एस. त्रिपाठी

परामर्श: डा. गिरीश मिश्र
डा. आर. एन. कुमार
डा. जी. पी. ओझा

संपादक मंडल: डा. शशिकांत राय
डा. कृष्ण कुमार सिंह
डा. अनिल कुमार सिंह
डा. अमर कान्त सिंह

प्रबंध संपादक: डॉ. अमर कान्त सिंह

साज–सज्जा : पंकज कुमार झा

संपादकीय सम्पर्क:

448, पॉकेट–5, मयूर विहार, फेज–1,
दिल्ली–110091
फोन : 011–22753916, 49050844
e-mail : editorialindia@gmail.com

मूल्य : ₹ 1500.00

मुद्रक एवं प्रकाशक शैलेन्द्र सेंगर द्वारा 448, पॉकेट–5, मयूर विहार, फेज–I, दिल्ली–110091 से प्रकाशित तथा शिव शक्ति प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा दिल्ली–32 से मुद्रित

नोट :

पत्रिका में प्रकाशित लेखकों के विचार अपने हैं। उसके लिए पत्रिका/संपादक/संपादक मंडल को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। पत्रिका से सम्बंधित किसी भी विवाद के निपटारे के लिए न्याय क्षेत्र दिल्ली होगा।

Editorial

In the past few years I haven't heard a single government school teacher complaining about her salary. They have many problems, but compensation is not one of them. The salary range within which a government primary school teacher starts is between Rs. 16,000 and Rs. 22,000 a month, depending on the state. Public healthcare (what is available) and retirement benefits are in addition to this, not to talk of the security. The salaries are in the range of Rs. 40,000-45,000 per month for someone who has worked for 20-odd years in the system. This has to be considered in the context of where most of these teachers live, i.e., rural and small town India. Their salaries are not lavish, but are reasonably comfortable. This doesn't include teachers who are not in regular employment, but are "contract teachers". Their salaries are much lower, and they are an understandably disgruntled lot. While few states do have large number of contract teachers, in most it's a small minority. Salaries of private school teachers are another matter altogether. In similar locations as I have mentioned, their salaries range from Rs. 2,000-6,000 per month. I am not referring to elite private schools which are an insignificant minority. Let's now look at some implications of these facts and related issues. For the average Indian, not the Mint reader, employment in a government school is a reasonably attractive proposition. It may figure lower in the attractiveness hierarchy as compared with many other roles in the government, because of it being low in the power hierarchy, but as compared with any other vocation in life, it's pretty good.

The urban middle class notion that we must get better people to become teachers is a nice general homily, with little connect to reality. That's because the socio-economic incentives are already aligned such that the profession attracts the average capable person, within the limitations of the existing population. The small minority of "best and the brightest" are anyhow attracted to medicine, engineering and the like. The starkest disincentive of the teaching profession is that it requires people to live in small towns and villages. This cannot be changed. Certainly teaching can be made more attractive, but that's by cultural and governance changes in the school system, to make the role of the teacher more creative and empowered as it should be. It's clear that the salaries of teachers in most such private schools are very low, bordering on the exploitative. The reasons why they get teachers at these salaries are fairly simple. Most of those who join private schools as teachers are those who are waiting and trying to join government schools. Since recruitment of government teachers has its own pace and scale (though it has become "cleaner" in many states), many keep waiting and trying for years, and it's this lot that largely feeds the private schools. Eventually of those who don't make it to the government system, many leave teaching to do other things, which is not surprising, given their salaries. The "teacher labour market" is driven by the government schooling system. Private schools are an appendage. One crucial implication of this is that the kind of people entering the teaching profession is driven by the government schooling system. If it were not so, the kind entering teaching would be of very low capability, making the situation in education even worse than today, given the primacy of the role of teachers in anything related to education. There are some interesting related issues. To get to those, let me ignore my "market fundamentalist" friends who continue to ignore all evidence that performance of private and government schools is not different, and that movement to private schools is largely because of non-educational, social factors.

—Editor

इस अंक में

संस्कृत

गीता में वर्णित ज्ञान-योग–*सुमन्त कुमार* 7

हरिवंशपुराण की उपादेयता–*डॉ० कान्ति सिंह* 10

शिक्षा में श्रीकृष्ण चरित्र की भूमिका–*डॉ० बबीता सिंह* 13

वर्ण व्यवस्था: एक अवलोकन–*अर्चना कुमारी* 18

वैदिक वाङ्मय में निरूपित पर्यावरण संरक्षण: एक विवेचन–*डॉ० नमिता कुमारी* 22

इतिहास

सविनय अवज्ञा आन्दोलन के दौर में किसान आन्दोलन–*डॉ० अमर कान्त सिंह* 25

स्मृतियों में विहित विवाह-विधि में नारी–*महेन्द्र प्रताप यादव* 29

हिन्दी साहित्य

हिन्दी और भारतीय भाषाओं का विकास–*डॉ० उपेन्द्र प्रसाद* 40

दर्शनशास्त्र

धर्मनिरपेक्षतावाद: भारत के संदर्भ में–*डॉ० वीरेन्द्र कुमार सिंह* 42

भूगोल

पर्यावरण और प्रदूषण–*संतोष राम* 45

गृह विज्ञान

मानव स्वास्थ्य में एनीमिया का महत्व–*कुमारी बबीता* 50

संचार क्रांति के युग में गृहविज्ञान–*श्वेता कान्ता* 54

अर्थशास्त्र

पर्यावरण: भारत के सन्दर्भ में एक विश्लेषण–*डॉ० रंजना सिंह* 56

असंगठित क्षेत्र के श्रमिकों का कल्याण–*डॉ० शारदा नन्द सहनी* 59

HISTORY

Partition, Pakistan and Muslim League—*Kumud Kumari* 61

Myths and Popular Beliefs about British Rule—*Dharmendra Kumar* 64

Social Relations in India: A Historical Analysis—*Dr. Dayanand* 67

Trade and Commerce in Medieval India—*Dr. Pawan Kumar* 72

Indian Resistance Movements in the Early Nineteenth Century—*Rakesh Kumar Jha* 75

Rammohan Roy and the Advent of Constitutional Liberalism in India—*Ranjeet Kumar* 78

Economy in Sangam Age—*Dr. Shweta* 81

Veracity of 1857-Mutiny or First War of Independence—*Soni Bhagat* 84

Land Tenure in Ancient India—*Beauty Bhagat* 88

"The Confluence of Indian Culture and Islam" —*Ramesh Kumar Gupta* 90

PSYCHOLOGY 94

Philosophy of Mind—*Dr. Dhananjay Kumar Singh* 94

Effect of Socio-economic Status on Creativity—*Dr. Om Prakash Singh* 99

POLITICAL SCIENCE 102

Corporate Governance—*Shaifali Singh* 102

Civil Society and Parliamentary Democracy in India —*Dr. Neelam Kumari Singh* 107

SOCIOLOGY 116

Islam, Modernity and Justice for Women—*Dr. Anuradha Gautam* 116

L.S.W. 122

MGNREGA: Issues and Challenges with Special Reference to Bihar and Jharkhand—*Dr. Vidyapati Gautam* 122

ECONOMICS

Forest and Wildlife Vs. Market Economy—*Dr. Arun Kumar Suman* 127

ENGLISH

130

Feminine Sensibility in Shashi Deshpande—*Dr. Kanchan Jain* 130

GEOGRAPHY

Natural Resource Aspects of Sustainable Development in India—*Garib Nath Ray* 134

गीता में वर्णित ज्ञान-योग

सुमन्त कुमार

श्रीमद्भगवद्गीता प्राचीन काल से आज तक भारतीय मनीषियों के लिए श्रद्धा एवं सम्मान का पात्र रही है। यद्यपि भगवद्गीता महर्षि वेदव्यास द्वारा रचित 'महाभारत' के भीष्म-पर्व का अंश है, तथापि इसकी लोकप्रियता एवं गुणग्राहिता के कारण इसे स्वतंत्र-ग्रन्थ का महत्व मिला है। सकलजीवनदर्शनसारभूत गीता में यद्यपि मुक्ति-लाभ एवं निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए भक्तिमार्ग, कर्ममार्ग, संन्यासमार्ग आदि का विवेचन हुआ है, तथापि गीता में ज्ञान-मार्ग का जैसा विवेचन प्राप्त होता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। यही कारण है कि शूराचार्य प्रभृति विद्वान् गीता का लक्ष्य निवृत्ति मार्ग के द्वारा ज्ञान-योग का प्रतिपादन मानते हैं। 'ज्ञान मोक्ष का साधन है- ऐसा उपनिषदों में पुनः पुनः प्रतिपादित किया गया है- 'ऋते ज्ञानात् न मुक्ति'। गीता में भी इसके लिए ज्ञान का महत्व प्रदर्शित किया गया है, जिसकी विशिष्ट-संज्ञा ज्ञान-योग है।

गीता में श्रीकृष्ण ने शरीर की असारता, आत्मा का अमरत्व तथा ब्रह्म एवं आत्मा के पूर्णतादात्म्यीकरण के शुद्ध-ज्ञान को ज्ञान-योग का मूलाधार कहा है। सच्चिदानन्द ब्रह्म शुद्ध ज्ञानस्वरूप है, ब्रह्म ही आत्मा है, आत्मा ही ब्रह्म है - इनका एकत्व दर्शन ही ज्ञान-योग का स्वरूप है। गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन को ज्ञान-योग की दीक्षा देते हुए बहते है कि हे अर्जुन! इस अविनाशी, अप्रमेय एवं नित्य-शरीर या आत्मा के सम्पूर्ण संसार में जितने भी शरीर हैं, वे सभी नाशवान है, -

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत।।[1]

पुनः श्रीकृष्ण शरीर की क्षणिकता का लौकिक उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों का त्याग कर नये वस्त्र को ग्रहण करता है, उसी प्रकार आत्मा पुराने शरीर को छोड़कर नये शरीर को धारण करती है। किन्तु आत्मा अपरिवर्त्तित रहती है -

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।[2]

वस्तुतः इस लौकिक संसार में प्रत्येक व्यक्ति अपने शरीर को ही साध्य समझ कर सम्पूर्ण जीवन उसके उपभोग की पुष्टि में युक्त रहता है, इस प्रकार वह कभी भी शरीर को आत्मा से पृथक् नहीं समझ पाता है। सच्चा ज्ञानयोगी वही है, जो यह भली-भाँति समझ ले कि शरीर जन्म-जरा-व्याधि -मृत्यु आदि के कारण अनित्य है, जबकि आत्मा जन्म-जरा-व्याधि-मृत्यु आदि से रहित होने कारण नित्य है। यह आत्मा न कभी उत्पन्न होता है, न कभी मरता है, एवं न ही उत्पन्न होकर पुनः होने वाला है, यह अजन्मा, अविनाशी और परिवर्त्तनशून्य है। शरीर का नाश होने पर भी इस अविनाशी शरीर का नाश नहीं होता -

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।[3]

गीता में प्रतिपादित ज्ञानयोग के समय एवं स्थान का विशेष महत्व है। महाभारत के युद्ध में जब अर्जुन अपने संबंधियों के मृत्यु की आशंका से विशेष शोकाकुल थे, तब उस शोक को दूर करने के लिए श्रीकृष्ण ने ज्ञान-योग की महिमा का वर्णन किया है। वे अर्जुन को कहते हैं कि इस शरीर के नाश होने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता। जो व्यक्ति इस आत्मा को मरने वाला समझता है, एवं जो इसको मरा हुआ समझता है, वे दोनों ही सत्य को नहीं जानते, क्योंकि यह आत्मा न किसी को मारता है, एवं न स्वयं मरता है -

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।[4]

गीता में प्रतिपादित ज्ञान-योग उपनिषदों एवं आरण्यकों में प्रतिपादित ज्ञान-योग से इतर नहीं है। जैसा कि कठोपनिषद् में भी यम नचिकेता को ज्ञान-योग का वर्णन करते हुए कहते है कि यह शरीरी कभी शरीर या इन्द्रियों से युक्त नहीं होता है, वस्तुतः चित्स्वरूप यह आत्मा देह के साथ देहवान प्रतीत होता है, अतः देह के नाश होने पर आत्मा का भी नाश मान लिया जाता है, किन्तु अविकारी, कूटस्थनित्य एवं अपरिवर्त्तनशील

यू०जी०सी० (नेट), संस्कृत, कमलानगर, मिरजानहाट, भागलपुर

होने के कारण यह आत्मा न तो मृत्यु को प्राप्त होता, न ही शरीर के नाश होने पर इस आत्मा का नाश होता है, जो ज्ञानी पुरूष इस प्रकार जान लेता है, वह अपनी मृत्यु के भय से एवं अन्य की मृत्यु के भय से मुक्त हो जाता है –

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं
कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न
हन्यते हन्यमाने शरीरे।।[5]

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं, हतश्चेन्मन्यते
हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न
हन्यते।।[6]

गीता में श्रीकृष्ण ने ज्ञान-योग का सविस्तार वर्णन किया है। उन्होंने आत्मा की शरीर की पृथकता के साथ ही आत्मा की अमरता एवं अविच्छिन्नता को विभिन्न उदाहरणों के माध्यम से समझाया है। यह सारी सृष्टि पंचमहाभूत-पृथ्वी, जल अग्नि, वायु एवं आकाश- का विस्तार है। अतएव श्रीकृष्ण इन महाभूतों से आत्मा की पृथकता को सिद्ध करते हुए कहते हैं कि –

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारूतः।।[7]

अर्थात् इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि इसको जला नहीं सकता, जल इसको गीला नहीं कर सकता, वायु इसको सुखा नहीं सकता। यहाँ 'शस्त्र' पृथ्वी का ही विकार है, जबकि आकाश महाभूत सबमें अनुस्यूत होता है। अतः स्पष्ट है कि यह आत्मा इन पंचमहाभूतों से पृथक् एवं अजर तथा अमर है।

गीता आत्मा एवं परमात्मा के एकत्वानुभूति को ज्ञान-योग का माध्यम मानती है, जो कि मोक्ष का मार्ग है। यह अनुभूति दो प्रकार की है – (1) सभी प्राणी-भूतों में आत्मदर्शन (2) आत्मा में सर्वभूतदर्शन-

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।[8]

अर्थात् ज्ञान-योगी सम्पूर्ण प्राणियों में अपनी आत्मा को या अपने शुद्ध स्वरूप को स्थित देखता है। जैसे साधारण प्राणी सारे शरीर में अपने-आपको देखता है अर्थात् शरीर के सभी अवयवों में, अंशो में 'मैं' को ही पूर्ण रूप से देखता है, ऐसे ही ज्ञान योगी सभी प्राणियों में अपने स्वरूप को ही स्थित देखता है। पुनः वह सम्पूर्ण प्राणियों को अपने अन्तर्गत देखता है अर्थात् अपने सर्वव्यापक स्वरूप में, जो कि सच्चिदानन्दधनस्वरूप है, सम्पूर्ण संसार को देखता है। ऐसे ज्ञान-योगी की अनुभूति को गीता में 'समदर्शन' अथवा 'समत्वयोग' कहा गया है। ज्ञानयोग की सबसे बड़ी विशेषता 'समत्वयोग' है। श्रीकृष्ण ने गीता में 'समत्वयोग' का पुनःपुनः प्रतिपादन किया है।

समत्वयोग के विभिन्न स्वरूपों का वर्णन गीता में किया गया है। उसका एक स्वरूप 'स्थित-प्रज्ञ' है। स्थित-प्रज्ञ वह है जो मन की सभी कामनाओं एवं वासनाओं का परित्याग कर देता है, वह परमात्मा में सन्तुष्ट रहता है वह दुःख, क्लेश, ताप इत्यादि से उद्विग्न नहीं होता है तथा भोग-वासना से संबंधित सुख की इच्छा नहीं रखता। दुखों में अविचल चित्त-वाला, सुख में स्पृहा-शून्य तथा प्रीति या राग, क्रोध तथा भय से रहित मुनि 'स्थित प्रज्ञ' कहा जाता है। वस्तुतः सांसरिक पदार्थों एवं भोग-वासनाओं के प्रति आसक्ति ही राग का कारण होती है, जिसके पाने तथा खोने के प्रति चिन्तित होने के कारण उसमें भय तथा क्रोध उत्पन्न होता है। अतः स्थित-प्रज्ञ इन संसारिक विषयों के प्रति अनुराग से निस्पृह हो जाता है, एवं उसकी बुद्धि में इन कामनाओं के प्रति न तो अनुराग उत्पन्न होता है, न ही किसी प्रकार का भय तथा क्रोध की भावना होती है –

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।[9]
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरूच्यते।।[10]

ऐसा समदर्शी स्थित-प्रज्ञ ज्ञानयोगी सर्वत्र समान भाव से देखता है। जैसा गीता में कहा गया है कि ऐसे ज्ञानी-जन विद्या और विनय-युक्त ब्राहमण में तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में भी समभाव से देखने वाले होते हैं-

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि
हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः
समदर्शिनः।।[11]

उपर्युक्त श्लोक का तात्पर्य यह है कि समदर्शी ज्ञान-योगी विद्या एवं विनययुक्त ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ता एवं चाण्डाल- इन पांचों प्राणियों में व्यवहार की समता सम्भव न होने पर भी तत्वतः परमात्म भाव से समान रूप से देखता है। इस प्रकार ऐसा समदर्शी ज्ञानयोगी जिस काल में सम्पूर्ण प्राणियों के अलग-अलग भावों को एक ही परमात्मा में स्थित एवं उसी परमात्मा से ही सम्पूर्ण भूतों का विस्तार देखता है, उसी क्षण वह परमात्मा को प्राप्त हो जाता है –

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा।।[12]

यही ज्ञान योग की चरम-परिणति है जिसकी साधना से आत्मा एवं परमात्मा में एकता का संबंध हो जाता है। गीता में वर्णित ज्ञान-योग की साधना से ज्ञान-योगी के लिए मोक्ष का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। इस प्रकार गीता में वर्णित ज्ञान-योग विचार प्रधान तथा बौद्धिक-तार्किक क्षमता से युक्त ज्ञानमार्गियों के लिए सर्वथा ग्रहणीय है।

संदर्भ-सूची

1. श्रीमद्भगवद्गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर 2/18
2. वही 2/22
3. वही 2/20
4. वही 2/19
5. कठोपनिषद्, चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी 1/2/18
6. वही 1/2/19
7. श्रीमद्भगवद्गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर 2/23
8. वही 6/29
9. वही 2/55
10. वही 2/56
11. वही 5/18
12. वही 13/30

❖❖❖

हरिवंशपुराण की उपादेयता

डॉ० कान्ति सिंह

हरिवंशपुराण एक पारायण-ग्रन्थ है जिसमें हरि अर्थात् भगवान् विष्णु का गुणगान किया गया है- ''आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते'' अर्थात् आदि, मध्य और अन्त सर्वत्र हरिवंशपुराण में हरि-संकीर्तन किया गया है। यह विशाल आख्यान ग्रन्थ महाभारत का अंश है। इसकी उपयोगिता और लोकप्रियता खासकर गांवों में देखने को मिलती है जहाँ बूढ़े-बुजुर्गों के बीच आज भी इसका वाचन किया जाता है। हरिवंश का धार्मिक महत्व सर्वत्र प्रख्यात है। सन्तान के इच्छुक व्यक्तियों के लिए हरिवंश के विधिवत् श्रवण का विधान लोकप्रचलित है। शपथ खाने के लिए पुरुषों के हाथ पर हरिवंश की पोथी रखने का प्रचलन आज भी नेपाल में उसी प्रकार है जिस प्रकार किसी मुसलमान के हाथ पर कुरान रखने का।

श्रीकृष्ण के चरित्र के तुलनात्मक अध्ययन के लिए हरिवंश के विष्णुपर्व का परिशीलन नितान्त आवश्यक है। प्राचीन भारत की ललित कलाओं के विषय में हरिवंश बहुत ही उपादेय सामग्री प्रस्तुत करता है। प्राचीन भारत में नाटक के अभिनय-प्रकार की जानकारी के लिए भी यहाँ उपादेय तथ्यों का संकलन है। सबसे महत्वपूर्ण है हरिवंश में राजनैतिक इतिहास का वर्णन, जो किसी भी प्राचीन पुराण के वर्णन से उपादेयता और प्रामाणिकता में किसी प्रकार न्यून नहीं है।[1] इसतरह, प्रथम शती में भारतीय संस्कृति की रूपरेखा जानने के लिए हरिवंश[2] हमारा विश्वसनीय मार्गदर्शक है।

वस्तुतः भारतवर्ष की संस्कृति का परिचय पाने के लिए हरिवंशपुराण एक सुन्दर वातायन है। वैदिकोत्तर संस्कृति का मेरुदण्ड पुराण-साहित्य हैं। पुराविदों ने कथाओं-उपकथाओं के माध्यम से वैदिक संस्कृति और सभ्यता का प्रचार-प्रसार किया। इसका परिणाम यह हुआ कि वैदिक संस्कृति से किञ्चित् परिष्कृत पौराणिक संस्कृति का विकास हुआ। यह संस्कृति न तो पूर्णतः वैदिक है और न ही पूर्णतः अवैदिक। विभिन्न पुराणों में एक मर्यादा-पुरुष[3] को केन्द्र मानकर एक नए आध्यात्मिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक आदर्श को जो उपस्थापित करने का प्रयास किया गया है उनमें हरिवंशपुराण भी एक है।

हरिवंशपुराण सोलह हजार तीन सौ चौहत्तर (16374) श्लोकों में उपनिबद्ध है। इसमें तीन पर्व या खण्ड हैं। प्रथम पर्व हरिवंशपर्व है जिसमें हरि अर्थात् कृष्ण के वंश वृष्णि-अन्धक की कथा विस्तार से दी गयी है और इस आदिम पर्व के आधार पर ही पूरे ग्रन्थ का नामकरण किया गया है। आरंभ में सृष्टि वर्णन है। ध्रुव के वर्णन के अनन्तर राजा पृथु की कथा विस्तार से दी गयी है। सूर्यवंशी राजाओं के प्रसंग में विश्वामित्र तथा वसिष्ठ का भी आख्यान वर्णित है। प्रसंग से पृथक् हटकर प्रेतकल्प (अन्त्येष्टि और श्राद्ध) का वर्णन नौ अध्यायों में विस्तार से निबद्ध है और इसी के अन्तर्गत 21वें अध्याय में पशुओं की बोली को समझने-बूझने वाले ब्रह्मदत्त की कथा दी गयी है। चन्द्रवंशी राजाओं के वर्णन के अवसर पर राजा पुरुरवा और उर्वशी का प्रख्यात वैदिक आख्यान प्राचीन शैली तथा भाषा में निबद्ध होकर शतपथ ब्राह्मण के आख्यान से समानता रखता है। इसके पश्चात् नहुष, ययाति तथा यदु का वर्णन है और विष्णु की अनेक स्तुतियाँ की गयी हैं जो एक प्रकार से कृष्ण के पूर्व देवविषयक ज्ञान का परिचय देती है।

द्वितीय-पर्व विष्णुपर्व समग्र ग्रन्थ का अतिशय विस्तृत तथा महनीय भाग है। इसमें कृष्णचन्द्र की विविध लीलाओं का, विशेषतः बाल-लीलाओं का बड़ा ही सांगोपांग रुचिर विवरण है। श्रीमद्भागवत् के वर्णन से तुलना करने पर अनेक स्थलों पर पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है। कहीं-कहीं अन्य घटनाएँ भी दी गयी हैं। कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न के जन्म, शंबर द्वारा हरण, समुद्र से प्राप्ति तथा मायावती के साथ विवाह आदि प्रख्यात कथाओं का यहाँ उल्लेख है परन्तु असुरों के राजा वज्रनाभ की दुहिता प्रभावती के साथ प्रद्युम्न विवाह एकदम नूतन तथा पर्याप्त रोचक है। इसी प्रकार प्रख्यात रासलीला का हल्लीसक नृत्य के रूप में निर्देश किसी प्राचीन युग की स्मृति दिलाता है। इस पर्व के अन्त में अनिरुद्ध का

व्याख्याता, आर०डी०एम० डिग्री कॉलेज, छपरा

विवाह बाणासुर की कन्या उषा के साथ बड़े उमंग और उत्साह से वर्णित है और इससे पूर्व हरिहरात्मक-स्तव द्वारा शिव एवं विष्णु की एक ही अभिन्न देवता के रूप में सुन्दर स्तुति की गयी है। इस पर्व में विषय की एकता और वर्णन की संगति से प्रतीत होता है कि प्राचीन युग में श्रीकृष्णचरित-काव्य के साथ यह अंश सम्बन्ध रखता है।

भविष्य-पर्व हरिवंशपुराण का तृतीय एवं अन्तिम पर्व या खण्ड है। यह भाग विविध वृत्तों का पौराणिक शैली में परस्पर असम्बद्ध संकलन है। इस पर्व का नामकरण प्रथम अध्याय के नाम पर है जहाँ भविष्य में होने वाली घटनाओं का संकेत किया गया है। जनमेजय द्वारा विहित यज्ञों का वर्णन बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है। विष्णु के सूकर, नृसिंह तथा वामन अवतारों के वर्णन के अनन्तर शिवपूजा तथा विष्णु पूजा के समन्वय की दिशा दिखायी गयी है। शिव के दो उपासक हंस तथा डिम्भक की कथा विस्तार से वर्णित है जिन्हें हंस ने पराजित किया था। महाभारत के माहात्म्य-वर्णन के पश्चात् समग्र हरिवंश का ध्येय हरि की स्तुति में प्रदर्शित किया गया है।

परिगणित अठारह[4] पुराणों में हरिवंशपुराण की गणना नहीं है। अतएव विवश होकर विद्वानों ने इसे महाभारत के 'खिल-भाग' के नाम से अभिहित किया है और कहा है कि यह महाभारत का 'खिल' अर्थात् छूटा हुआ अंश है। महाभारत के प्रचलित पाठों में भी इसे 'पुराणं खिलसंज्ञितम्'[5] कहा गया है। वस्तुतः भारतीय परम्परानुसार 'हरिवंश' एक पुराण है। पुराण के रूप में हरिवंश को इतनी अधिक प्रतिष्ठा मिल चुकी है कि लोग इसे महाभारत का 'खिल' मानना भ्रान्ति-मात्र समझते हैं। इसका कारण 'हरिवंश' का पौराणिक स्वरूप ही है। हरिवंश का स्वरूप पुराणों से मिलता-जुलता है। पुराविदों ने पुराण के जो लक्षण[6] निर्दिष्ट किये हैं तदनुसार पुराणों का वर्ण्य-विषय 'वंश' ही मूल रूप से लक्षित होता है। क्योंकि, सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश और मन्वन्तर तो शाश्वत हैं, अतएव वंशानुचरित ही पुराणों का मुख्य प्रतिपाद्य है, ऐसी मान्यता दृढ़ हो चुकी है। इस तरह प्रस्तुत हरिवंश कीर्त्तन-परक ग्रन्थ 'पुराण' से अभिहित हुआ तो यह समीचीन ही है।

पुराण-लक्षण-घटक वंशानुचरित से सम्पन्न होने के बाद भी पुराविदों ने हरिवंश को पुराणों में परिगणित नहीं किया है जिसका कारण है इसमें पूर्ण पौराणिकता का अभाव तथा महाभारत से इसके पृथक् होने में अप्रामाणिकता। यद्यपि हरिवंशपुराण में पौराणिक लक्षण के आभास से इसका पुराण-व्यपदेश ठीक ही है किन्तु यह पारमार्थिक रूप से पुराण नहीं है। इसमें सर्ग-प्रतिसर्ग आदि पौराणिक अंगों का लेशमात्र ही समावेश है तथा पुराणों की तरह इसकी महाविषयता भी नहीं है। इसे यदि आर्षकाव्य कहा जाए तो अधिक समीचीन होगा। इसके श्रवण से पुत्र-प्राप्ति रूप प्रयोजन सिद्ध होता है जबकि पुराणों में चतुर्वर्ग प्रतिष्ठित है। इस प्रकार यह मानव-जीवन के एकमात्र प्रयोजन के साधक होने से अल्पप्रयोजन-परक है। यही कारण है कि पुराविदों ने इसे पुराण की श्रेणी में नहीं गिना।

'हरिवंश', पुराण के रूप में प्रथित होने के बाद भी पुराण की कोटि में नहीं गिना जा सका, क्योंकि पुराण का मुख्य प्रतिपाद्य वंशानुचरित भले ही हो, उसके अन्य प्रतिपाद्य भी अनिवार्य ही हैं। वस्तुतः पुराण वंशानुचरित-मात्र नहीं है जबकि हरिवंश का मुख्य प्रतिपाद्य या प्रयोजन वंश-प्रतिष्ठा है। इसके नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें हरि अर्थात् भगवान् विष्णु के अवतार कृष्ण[7] के वंश का वर्णन है। इसके प्रणयन का प्रयोजन वंश-प्रतिष्ठा मात्र है। इस प्रयोजन की निष्पत्ति हेतु इसमें पितृ-प्रसंग को उपस्थापित किया गया है। पितरों की अनुकम्पा से पुत्र की प्राप्ति होती है तथा उनके असंतोष से पुत्र का अभाव होता है।

हरिवंशपुराण के तीन भाग हैं - हरिवंश, विष्णु और भविष्य अर्थात् भूत, भव्य और भविष्य। इस विभाजन का रहस्य है - पितृ, देव और मनुष्य -- पिता, आत्मा और पुत्र। सन्तान के अभाव के तीन कारण हो सकते हैं - पितरों का कोप, दैवी प्रतिकूलता और मानव-क्षोभ। इनके तीन ही प्रतिकार हैं - पितरों के प्रति श्रद्धाभाव, देवताओं में भक्ति और मनुष्य के लिए सद्भावना। हरिवंशपुराण में इन्हीं उद्देश्यों को ध्यान में रखकर नारायणावतार महर्षि व्यास ने प्रथम भाग में पितरों का उपाख्यान, द्वितीय भाग में विष्णु के चरित्र का व्यापक चित्रण तथा अन्तिम भाग में विष्णु के अवतारों का वर्णन किया है जिससे सद्भावना का उदय हो सके।

इसप्रकार हरिवंशपुराण अपने प्रयोजन के प्रति सापेक्ष है। इसकी अपनी प्रतिज्ञा और अपना प्रयोजन है। नामानुरूप ही इसमें 'हरि' के वंश का वर्णन है और पुत्रप्राप्ति इसका फल है। यह महाभारत का परिशिष्ट अवश्य है जिसका निर्वाह करते हुए महर्षि व्यास ने भी इसकी रचना पर्वों में की है। किन्तु परिशिष्ट

होने के बाद भी इसमें पौराणिक लक्षणों का संघटन इसे पुराविद्या से पृथक् नहीं कर सकता। इसकी पृथक् प्रतिज्ञा और पुत्रप्राप्तिरूप फल-पार्थक्य से लाभान्वित लोगों ने आज भी इसे पुराण के ही रूप में अपनाया है, जो सर्वथा समीचीन है।

सन्दर्भ

1. द्रष्टव्य, डॉ. वीणापाणि पाण्डेय, हरिवंश पुराण का सांस्कृतिक विवेचन, हिन्दी समिति लखनऊ द्वारा प्रकाशित, 1960
2. हरिवंश का प्रकाशन नीलकण्ठ की टीका के साथ चित्रशाला प्रेस पूना से तथा हिन्दी अनुवाद के साथ गीताप्रेस गोरखपुर ने किया है।
3. वामनपुराण में भगवान् विष्णु के वामनावतार को केन्द्र मानकर पौराणिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार मत्स्यपुराण में चाक्षुष-मन्वन्तर में लय के समय ऋषियों के कल्याणार्थ अवतरित भगवान् के महामत्स्यावतार को, पद्मपुराण में कमलयोनि ब्रह्मा, कूर्मपुराण में महाकूर्म, स्कन्दपुराण में तारकासुर के वधार्थ षण्मुख कार्तिकेय तथा वराहपुराण में पृथ्वी के उद्धारार्थ भगवान् महावराह को।
4. मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम्।
   अनापलिङ्गकूस्कानि पुराणानि विदुर्वुधाः।।
5. महाभारत, आदिपर्व, 2.82.83
   हरिवंशस्ततः पर्वं पुराणं खिलसंज्ञितम्।
6. श्रीमद्भागवत, 12.7
   सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
   वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम्।।
7. हरिवंशपुराण, 1.1.8
   पितामहाद्यं प्रवदन्ति षष्ठं महर्षिमक्षय्यविभूति युक्तम्।
   नारायणस्यांजमेकपुत्रं द्वैपायनं वेद महानिधानम्।।
   इस श्लोक को निम्नरूप में समझना चाहिए-
   नारायण-ब्रह्मा-वसिष्ठ-शक्ति-पराशर-व्यास।

❖❖❖

शिक्षा में श्रीकृष्ण चरित्र की भूमिका

डॉ० बबीता सिंह

जिनके चरण-कमलों की सदा सेवा करने वाले मनुष्य को सफलता शीघ्र ही स्वीकार कर लेती है, उन वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण को हृदय में धारण करता हुआ मैं उनके चरित्ररूपी अमृत की तरगों से अपनी वाणी को पवित्र करता हूँ।

उद्यानों के पुष्प, आकाश के नक्षत्र, पर्वतों के वृक्ष, मेघों के बिंदु, पृथ्वी के परमाणु, समुद्र की तरगों, सज्जनों के गुण संभव है गिने जा सकें, किंतु सर्वाधार, सर्वेश्वर, महामहिम, प्रत्यक्ष परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण के अपरिमित, परम पवित्र, पापनाशकारी, सज्जनहृदयविहारी गुणों की गणना अनेक कल्पों में भी संभव नहीं है। अत: उनके अपार गुणरत्नाकर से कुछ रत्न उद्धृत करके पाठकों के मनोविनोदार्थ सादर समर्पण करने की चेष्टा की जा रही है। इस संसार में जितने भी जीवधारी दृष्टिगोचर होते हैं, उन सबके मन में यही इच्छा रहती है कि हम सुखी रहें, कोई दु:ख हमें न सताये, किंतु उनमें अधिकतर सच्चे सुख की प्राप्ति के उपाय को न जानने के कारण इधर-उधर भटकते हुए स्वप्न में भी सुख के दर्शन किये बिना ही इस असार संसार को छोड़ जाते हैं और अपने किये हुए कर्मों के अनुसार बारंबार जन्म-मरण की दारुण यातनाओं को भोगने के लिये चौरासी लाख योनियों में चक्कर काटा करते हैं।

ऐसी दशा में दयालु पुरुषों ने निरंतर ध्यानावस्थित होकर सच्चे सुख का अत्यंत सरल, परम, सर्वोपयोगी, निष्कण्टक एक ही मार्ग ढूंढ निकाला है, जिस पर चलकर बालक-बूढ़े-जवान, स्त्री-पुरुष-नपुंसक, बलवान्, निर्बल, रोगी-नीरोगी, धनी-निर्धन, पण्डित-मूर्ख, राजा-रंक, शिक्षित-अशिक्षित, ग्रामीण-नागरिक, पापात्मा-धर्मात्मा, बुद्धिमान-निबुद्धि, एकाकी या कुटुम्बी, गृहस्थ या संन्यासी आदि में से कोई भी क्यों न हो वह अपार, अद्भुत, अखण्ड परम सुख का अधिकारी हो जाता है। उस सच्चे सुख का मार्ग है भगवान् श्रीकृष्ण की निष्काम भक्ति, जिसके आश्रय से सामान्य जीव भी चराचर का पूज्य और प्रात:स्मरणीय हो जाता है। स्वयं तो वह सांसारिक बंधनों से मुक्त होता ही है, किंतु अन्यों को भी मुक्त करने की सामर्थ्य रखता है।

वास्तव में देखा जाए तो जीव को ईश्वर-भक्ति की वैसी ही आवश्यकता है, जैसी कि मछली को जल की; क्योंकि जिस प्रकार जल से अलग होकर मछली एक क्षण भी सानन्द नहीं रह सकती, उसी प्रकार भगवान् से अलग होकर जीव भी कुछ भी सुख नहीं प्राप्त कर सकता; क्योंकि परमात्मा अखण्ड अग्नि-भण्डार के समान हैं और जीव उनकी एक चिंनगारी के समान है। जब तक चिंनगारी अग्नि-भण्डार में रहती है, तब तक उसमें वह सब शक्ति रहती है, जो अग्नि में है; किंतु ज्यों ही वह अग्नि-भण्डार से पृथक हुई कि उसकी सारी शक्ति प्रबल वायु के झोंकों में आकर लुप्त हो जाती है और उसका अस्तित्व मिट-सा जाता है।

इसी प्रकार जीव जब तक प्रगाढ़ भक्ति के द्वारा ईश्वर में मिला रहता है, तब तक वह संपूर्ण ईश्वरीय गुणों से परिपूर्ण रहता है, किंतु जहां वह उससे अलग हुआ अर्थात् उसने भगवद्भक्ति का त्याग किया, वहीं वह अविद्यारूपी वायु के झोंकों में पड़ जाने के कारण अपनी समस्त शक्ति को खोकर अस्तित्व को भी भूल-सा जाता है। ऐसी दशा में उसे जितनी ही दारुण यातनाएं भोगनी पड़ें उतनी ही कम हैं। इससे सिद्ध हुआ कि कल्याणकामी पुरुष के लिए भगवद्भक्ति अमोघ रत्न है। अत: प्रत्येक स्थिर-बुद्धि, भले-बुरे का विचार रखने वाले मनुष्य को उसका अवलंबन अवश्य करना चाहिए। अब यह सोचने की आवश्यकता है कि भगवद्भक्ति करने वाले मनुष्य का क्या कर्तव्य है।

संसार में देखा जाता है कि यदि कोई मनुष्य किसी व्यक्ति की भक्ति करना चाहता है तो वह निरंतर उसका गुणगान करता हुआ सर्वदा उसके रूप को हृदयस्थ रखता है। जिन कामों के करने में उसे घृणा है, उन्हें वह स्वप्न में भी नहीं करता और जिन कामों में उसकी रुचि है, उन्हें प्राणपण से भी करने की चेष्टा करता है। ऐसी दशा में वह जिसकी भक्ति करता है, वह उस पर अनुकूल हुए बिना नहीं रह सकता, इसी

व्याख्याता, पी०के० डिग्री कॉलेज, छपरा

प्रकार सबसे पहले भगवान् श्रीकृष्ण के भक्तों को यह जानने की आवश्यकता है कि हमारे प्रभु को कौन-से कार्य प्रिय और कौन-से अप्रिय हैं। तदनन्तर उनके प्रिय काम करने और अप्रिय त्यागने चाहिए, फिर लगातार उनकी मधुर मूर्ति का ध्यान करते हुए निरंतर नामस्मरणपूर्वक उनकी भक्ति-लता को अपनी श्रद्धारूपी सुधा की पवित्र धारा से सदैव सींचते रहना चाहिए।

भगवान् श्रीकृष्ण को कौन-से काम प्रिय और कौन-से अप्रिय हैं, इसका निश्चय करने में किसी कठिनता का सामना नहीं करना पड़ता; क्योंकि सर्वात्मा, सर्वाधार, जगन्नियन्ता, दयाधाम, पार्थसारथि भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में अपने अवतार लेने के प्रयोजन की घोषणा इस प्रकार की है–

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।

'सज्जनों की रक्षा के लिए और दुष्टों का नाश करने के लिए तथा धर्म की रक्षा के लिए मैं प्रत्येक युग में शरीर धारण करता हूं।' इससे स्पष्ट है कि शिष्टों पर अनुग्रह, दुष्टों का निग्रह और धर्म की रक्षा भगवान् का प्रिय कार्य है। अतः सच्चे भगवद्भक्तों को सर्वदा सचेष्ट होकर उपर्युक्त कार्यों को परिपूर्ण करने में यथाशक्ति कोई बात उठा नहीं रखनी चाहिए; क्योंकि ऐसा करने से उन भगवद्भक्ति-पथ के पथिकों पर प्रभु की कृपा अवश्य होगी।

यदि अपने को भगवद्भक्त कहने वाला व्यक्ति उपर्युक्त तीन कर्तव्यों के पालन से विमुख है तो वह भगवद्भक्त नहीं कहला सकता; क्योंकि जो सच्चा प्रेमी है वह प्राणों की भी परवाह न करके उसी काम को करता है जो उसके प्रेमास्पद के अनुकूल होता है। जो ऐसा नहीं कर सकता उसे प्रेमी कहलाने का कोई अधिकार नहीं है; क्योंकि प्रेमी का तन, मन, धन सब कुछ प्रेमास्पद के चरणों पर न्योछावर करने के लिए ही होता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि संपूर्ण कल्याणों के मूल भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति किस प्रकार प्राप्त होती है? इसका उत्तर वैष्णव-शास्त्रों के अनुसार यही है कि राग-द्वेष से रहित, आत्माराम, यथालाभसंतुष्ट, निरभिमान, जितेन्द्रिय, दुःख-सुख को समान समझने वाले, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर से रहित, सर्वत्र सर्वदा उठते-बैठते, चलते-फिरते, सोते-जागते, यहां तक कि प्रत्येक कार्य के करते समय भुवनमोहन, अशरण-शरण सर्वलोकपालपूजितपाद्म, भगवान् श्रीकृष्ण का चिंतन करने वाले और सर्वदा उनके गुणानुवाद को अपने चित्त की शांति का साधन समझने वाले पुरुषों की सेवा से उस भगवद्भक्ति अनर्घ्यमणि की प्राप्ति होती है, जिसके प्रकाश और प्रभाव से अज्ञान-तिमिर और सांसारिक समस्त बंधन वैसे ही नष्ट हो जाते हैं जैसे सूर्योदय होते ही अंधकार।

भगवान् श्रीकृष्ण का चरित्र भागीरथी के समान पवित्र, कपूर के समान शुभ्र, भौक्तिक के समान उज्जवल, चन्दन के समान शीतल, चन्द्रमा के समान मनोहर, भगवान् शंकर के समान कल्याण-मूल, सरस्वती जी के समान अखिल ज्ञानदायक, समुद्र के समान अपार और अगाध, पर्वत-शिखर के समान दुरारोह, अखिल लोक-लोचन भगवान् भास्कर के समान अंधकार-नाशक है। इसके श्रवण, मनन, आचरण और प्रचार से ऐसा कौन-सा कार्य जो न हो सके और ऐसी कौन-सी वस्तु है जो न मिल सके, किंतु बुद्धि की मन्दता के कारण बहुत-से मन्दभाग्य बिना पूर्व पर सोचे भगवान् के चरित्र के ऊपर इस प्रकार आक्षेप करते हैं कि भगवान् ने व्रजभूमि में रहते हुए दूध-दही, मक्खन-मिश्री आदि खाद्य पदार्थों की चोरी व्रजाङ्गनाओं से विहार, गोपी-चीरहरण, वृषभ का वध, स्त्री होने पर भी पूतना का वध आदि अनेक ऐसे कार्य किये हैं, जिनके कारण उन्हें ईश्वर समझना तो दूर, भला आदमी समझने में भी बाधा है। इसका उत्तर यह है कि जिन ग्रंथों में उपर्युक्त चरित्रों का वर्णन है, वे सभी ग्रंथ भगवान् श्रीकृष्ण को जगत्रियन्ता, जगदाधार, प्रत्यक्ष परब्रह्म मानते हैं। ऐसी दशा में उनके चरित्रों का यथार्थ रहस्य वे ही जान सकते हैं।

वस्तुतः भगवान् श्रीकृष्ण के आज्ञानुसार चलकर अपने जीवन को सुखमय बनाना एवं उनकी भक्ति के द्वारा मुक्ति को भी हस्तगत करना चाहिए, किंतु ध्यान रहे कि भगवद्भक्तों को श्रीकृष्ण के उन्हीं चरित्रों के अनुसरण करने की आज्ञा है जो उनके उपदेश के अनुसार हैं। शास्त्रों में कहा भी है–

ईश्वराणां वचः सत्यं क्वचिदाचरितं तथा।
यत्तेषां स्ववचो युक्तं बुद्धिमांस्तत्तदाचरेत्।।

'ईश्वरों का वचन ही कल्याणकारक है, कहीं-कहीं उनके आचरण का अनुशरण भी लाभदायक है। बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि ईश्वरों का जो आचरण उनके उपदेश के अनुसार है उसी का अनुसरण करे, अन्य का नहीं।'

ऐसी दशा में किसी शंका-समाधान की आवश्यकता ही नहीं है; क्योंकि

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहीं पर भी परद्रव्यापहरण, परस्त्री-गमन, दासी-रति, वृषभ-मारण, नारी-हत्या आदि की आज्ञा नहीं दी है; प्रत्युत इनके विरुद्ध ही घोर प्रयत्न किया है। इतना सब उन आस्तिक पुरुषों के लिये लिखा गया है जो भगवान् श्रीकृष्ण को ईश्वर तो मानते हैं, किंतु उनके उपर्युक्त आचरणों का संतोषजनक समाधान न जानने के कारण अव्यवस्थित-बुद्धि रहा करते हैं। यदि आपलोग सात वर्ष के बालक का सात दिन-रात तक पर्वत को ऊंगली पर उठाये रखना, सौ फन वाले सांप के सिर पर बालक का नाचना, सोलह हजार स्त्रियों के पास एक ही समय एक पुरुष का निवास करना, अपनी सामर्थ्य से सूर्य को छिपाकर ठीक समय पर पुनः प्रकट कर देना, एक शाक का पत्ता खाकर दस हजार मनुष्यों को तृप्त कर देना आदि कार्य असंभव मानते हैं तो उपर्युक्त चरित्रों को भी असंभव क्यों नहीं मान लेते? क्योंकि असंख्य गायों के अधिपति नन्द का पुत्र घी, दूध आदि की चोरी नहीं कर सकता, ग्यारह-बारह वर्ष का बालक संभोग का नाम भी नहीं जान सकता, बैल का सींग पकड़कर मारना तो दूर रहा, किंतु नन्हा-सा बालक लाठी लेकर उसके सामने जा भी नहीं सकता, महीने भर का बालक दूध पीते-पीते किसी स्त्री का प्राण-हरण नहीं कर सकता और ऐसा कहकर क्यों नहीं इन चरित्रों को भी बना हुआ ही समझ लेते हैं।

इन परम गंभीर, दुर्विज्ञेय, परम पावन चरित्रों के अतिरिक्त सारा श्रीकृष्ण-चरित्र परम सरल, सबके अनुकरण करने योग्य और सर्वाभीष्टदायक है। मेरी समझ में तो संसार भर में कोई भी ऐसा महापुरुष नहीं हुआ, जिसका चरित्र भगवान् श्रीकृष्ण के चरित्र से टकराता हो।

अब श्रीकृष्ण-चरित्र से मिलने वाली कुछ शिक्षाओं का उल्लेख किया जा रहा है–

1. भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्रजी महाराज ने मक्खन, मिश्री, दूध, दही आदि सात्विक आहार को स्वीकार करके हम लोगों को दिखला दिया है, कि इस प्रकार के आहार से प्रेम करने वाला मनुष्य 'गीता'-जैसे लोकोपकारी लोकोत्तर ग्रंथरत्न की रचना कर सकता है।
2. चराचर के अधीश्वर भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्रजी महाराज ने स्वयं तन, मन, धन से गौओं की सेवा करके सिद्ध कर दिया है कि गौओं की शुद्ध अंतःकरण से सेवा करने वाला मनुष्य सदा सुखी, हृष्ट-पुष्ट, नीरोग, निःशोक, यशस्वी और सर्वप्रिय होता है।
3. वृंदावन बिहारी, यमुनाकुलचारी, पीतांबर धारी, भक्तभयहारी, दयाधाम भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्रजी महाराज ने कन्दुक-क्रीड़ा के मिस से 'कालिय'-नामधारी महाभयकारी दारुण विषधर का मद चूर्ण करके शिक्षा दी है कि अपने देशवासियों को हितार्थ प्राणों की भी ममता छोड़कर उद्योग करना चाहिए।
4. दुराचारी कंस की सेवा में रहकर भी सदाचार की रक्षा करने वाली 'कुब्जा' के दिये हुए अनुलेपन से प्रसन्न होकर, गोवर्धनधारी, मार-मदहारी, मुनिमानसचारी, प्रणतवत्सल, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, दीनबंधु भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र जी महाराज ने उसकी सुंदरता को न्यून बनाने वाले उसके कूबड़ को सर्वथा दूर करके दिखला दिया है कि अभिमान से रहित, सदाचारपरायण, परमात्मा में विश्वास रखने वाले, समदर्शी, नित्यसंतुष्ट, सात्विक जीवों के सब अनिष्ट इस प्रकार अनायास दूर हो जाते हैं, जिस प्रकार सूर्य के उगने पर घोर अन्धकार दूर हो जाता है।
5. न्यायपूर्णमूर्ति भगवान् यदुनन्दन ने अपने सगे मामा कंस का वध करके शिक्षा दी है कि अन्याय करने वाला, वेदमार्ग को लुप्त करने वाला, वर्णाश्रम धर्म को छिन्न-भिन्न करने वाला, दुष्टों की सहायता करने वाला, सज्जनों को दण्डित करने वाला, देव-मंदिरों को तोड़ने वाला, वाम मार्ग का प्रचार करने वाला मनुष्य चाहे अपना कितना ही घनिष्ठ संबंधी क्यों न हो, लोकहित के लिए उसका वध परमावश्यक है। साथ ही प्रभु ने इस चरित्र के द्वारा यह भी प्रकट कर दिया कि अन्यायी का वध न्यायसंगत, धर्मानुकूल और परम पावन कर्तव्य है।
6. प्रातःस्मरणीय, पूज्यवाद, पवित्रयशा, धर्ममूर्ति, धर्मावतार, भगवद्भक्तिरङ्गिणी-पवित्रकृतान्तःकरण, ज्येष्ठ पाण्डव, महात्मा युधिष्ठिरजी के राजसूय-यज्ञ में

वेदज्ञ, तपस्वी, यथालाभसंतुष्ट, परोपकारी, जितेन्द्रिय, सहनशील, धृतव्रत, ब्राह्मण-अभ्यागतों के पादप्रक्षालन का सेवा कार्य सहर्ष स्वीकार करके प्रभु श्रीकृष्ण चन्द्रजी महाराज ने दिखला दिया कि 'सर्वस्याभ्यागतो गुरु:'– अभ्यागत सबके गुरु हैं।

7. भीष्म, द्रोण, कृप, कर्ण आदि लोकविश्रुत धर्मज्ञ वीररत्नों के समक्ष सभा में दुराचारी उद्दण्ड दुर्योधन की आज्ञा से पापात्मा दु:शासन ने प्रात:स्मरणीया, भारत की एकमात्र सम्राज्ञी श्री द्रौपदी को भगवान विष्णु के बाहुदण्डों के समान अजेय, देव-देव पिनाकपाणि भगवान् शंकर के समान दुर्धर्ष, तारकनिकन्दन कार्तिकेय के समान अप्रतिहत-शक्ति संपन्न, परम आदरणीय धर्मप्राण पांचों पाण्डवों की विद्यमानता में उनके प्रतिज्ञाबद्ध होने के कारण नि:शुङ्क होकर विवस्त्रा करने का उद्योग किया, उस समय दावाग्नि में पड़ी हुई मृगी के समान कातर-दृष्टि से चारों ओर देखकर सतायी कुररी के सदृश करुणक्रन्दन करती हुई द्रौपदी ने पाषाण को भी द्रवीभूत कर सकने वाले शब्दों से सभा में उपस्थित सभी वीरपुङ्गव नर-रत्नों से अपने उद्धार की प्रार्थना की, किंतु दुर्योधन के भय से कर्तव्य करने में असमर्थ उन लोगों ने उसकी पुकार पर कोई ध्यान नहीं दिया; तब उसने सब ओर से निराश होकर अनाथों के नाथ, अशरण के शरण, निरालम्ब के अवलंब, दुखियों के सहायक, पतितपावन, दीनबंधु, सर्वव्यापक, जगन्नियन्ता भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्रजी महाराज का शुद्ध अंत:करण से ध्यान करके उनसे अपने उद्धार की प्रार्थना की, तो दयामय, लीला-पुरुषोत्तम, द्रुपद-नन्दिनी की लज्जा की रक्षा करके पापात्मा दुर्योधन आदि के गर्व को खर्व कर दिया और संसार को दिखला दिया कि अनन्य भाव से चिंतन करने वालों से मैं किंचित् भी दूर नहीं हूं।

8. दुर्योधन की सेवा से प्रसन्न होकर सुलभकोप, दुर्धर्ष, परम तेजस्वी, तपोनिष्ठ, ब्रह्मतेजसंपन्न महर्षि दुर्वासा जब उसके समक्ष महारानी श्रीद्रौपदी के भोजन के पश्चात् दस सहस्त्र शिष्यों सहित पाण्डवों का अतिथि होना स्वीकार करके धर्मावतार श्री युधिष्ठिरजी महाराज के सम्मुख उपस्थित हुए तो उस समय सच्चे क्षत्रिय परम धार्मिक पांचों पाण्डव चिंतारूपी समुद्र में बारंबार गोते खाते हुए अपने उद्धार का कोई मार्ग न देखकर प्राणान्त से भी अधिक दु:ख का अनुभव करने लगे। तब साध्वी द्रौपदी ने नि:स्वार्थ सहायक, दीनों के आधार भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्रजी महाराज का आर्तभाव से स्मरण किया, तो उन्होंने तत्काल ही प्रकट होकर अन्नपात्र में अवशिष्ट एक शाकपत्र का कुछ अंश भक्षण करके शिष्यों सहित दुर्वासा को आकण्ठ तृप्त करके अपने सर्वव्यापकत्व और आर्तपरित्राणकारित्व का पूर्ण परिचय दे दिया।

9. पाण्डवों का अज्ञातवास समाप्त होने के अनन्तर कौरव और पाण्डवों में मनमुटाव की भीषणता के कारण युद्ध की संभावना देखकर स्वयं राजराजेश्वर होकर भी एक दूत के समान कौरवों की सभा में जाकर शांतिस्थापन की भरपूर चेष्टा करके प्रभु ने दिखला दिया कि सज्जन मनुष्य को चाहिए कि अपने मानापमान का ध्यान छोड़कर जाति और देश के हित के लिए परस्पर बढ़ती हुई कलहाग्नि को शांत करने का यथासाध्य भगीरथ-प्रयत्न करे।

10. धृतराष्ट्र, दुर्योधन, द्रोण, कर्ण, भीष्म आदि के भोजन के निमंत्रण को अस्वीकार करके प्रभु ने दिखला दिया कि अभिमानी और अन्यायी मनुष्यों के उत्तम-से-उत्तम भोजन से मनुष्य को सर्वथा बचना चाहिए।

11. इसी अवसर पर शांत, दांत, निरभिमानी, भगवद्भक्त, परोपकारी, परमत्यागी, दीन विदुरजी के घर पर भोजन स्वीकार करके प्रभु ने बतला दिया कि प्रेमी सज्जनों का दिया हुआ सामान्य द्रव्य भी सहर्ष स्वीकार करना चाहिए।

12. महाभारत-युद्ध के आरंभ में अर्जुन को 'किंकर्तव्य-विमूढ़' देखकर गीता के उपदेश द्वारा कर्तव्य-पथ पर आरूढ़ कराकर भगवान् ने दिखला दिया कि सच्चे मित्र का कर्तव्य अपने मित्र को अकर्तव्य से हटाकर कर्तव्य में लगाना है।
13. भीष्म के साथ युद्ध करते समय अर्जुन की उपेक्षा के कारण अपने भक्त युधिष्ठिर की सेना का भीषण संहार होते देखकर 'मैं युद्ध में शस्त्र नहीं उठाऊंगा'–अपनी इस प्रतिज्ञा की परवाह न करके भीष्म के वधार्थ रथ का चक्र उठाकर प्रभु ने दिखला दिया कि अपने आश्रितों की रक्षा के सम्मुख मेरी प्रतिज्ञा का कोई मूल्य नहीं।
14. नारदजी के शाप से यदुवंश के नाश होने की संभावना देखकर भी प्रभु ने यदुवंशियों की रक्षा का कोई उपाय न करके यह दिखला दिया कि अभिमानी, असत्यवादी, दुराग्रही, अपने कुलवालों को भी अन्याय का दण्ड मिलने पर किसी प्रकार उनकी सहायता न करें।
15. बाल्यावस्था के मित्र, सहाध्यायी, बहुत दिन के बिछुड़े हुए, परम दरिद्र, गुरुभाई सुदामाजी का सीमाधिक आदर करके और उनके बिना कहे भी उन्हें अपने तुल्य समृद्धिमान् बनाकर प्रभु ने दिखला दिया कि सच्चा मित्र कैसा होता है।

❖❖❖

वर्ण व्यवस्थाः एक अवलोकन

अर्चना कुमारी

ऋग्वेद से लेकर समस्त परवर्ती भारतीय साहित्य में 'वर्ण' शब्द का विविध प्रयोग मिलता है। 'वर्ण' शब्द 'वृ' अथवा 'वर्ण' धातु से उत्पन्न होता है- 'वर्ण वृणुते' जिसका आर्थ है- वरण करना। वरण करने योग्य गुण और कर्मों को देखकर यथायोग्य जो उनका वरण तथा व्यवस्था है, वह वर्णव्यवस्था है। जब संज्ञा रूप में यह शब्द प्रयुक्त किया जाता है तो रंग, सौंन्दर्य, अक्षर, स्वर, यष, प्रशंसा आदि अर्थों को प्रकट करता है। क्रिया रूप में प्रयुक्त होने पर इसका अर्थ रंगना अथवा वर्णन करना होता है।

वर्ण शब्द से आर्य तथा दास जाति विशेष, ब्राह्मणादि चार वर्णों का भी बोध होता रहा है। वर्णव्यवस्था का अभिप्राय इन्हीं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र - चारों से सम्बन्धित व्यवस्था से है। किन्तु समय के प्रवाह में ये क्रमषः उपाधि मात्र होते जा रहे हैं।

वर्णोत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्त

प्रसिद्ध समाजशास्त्रियों ने वर्णोत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्त प्रतिपादित किए है, जिनमें कुछ पौराणिक तो कुछ धार्मिक और ऐतिहासिक विकास क्रम पर आधारित है।

1. पुरूष के विभिन्न अवयवों से उत्पत्ति का सिद्धान्त- इस सिद्धान्त के प्राचीनतम उल्लेख ऋग्वेद के पुरूष सूक्त में है। इसके अनुसार सम्पूर्ण समाज एक विराट् पुरूष (ब्रह्मा) के रूप में परिकल्पित है। ब्राह्मण इस पुरूष का मुख है, क्षत्रिय भुजाएँ है, वैष्य जंघाएँ है और पुरूष के पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए हैं :-

सहस्रशीर्षा पुरूषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
पुरूष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।।

ब्राह्मणोऽस्य मुखामासीत् बाहू राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद्वैष्यः पद्भ्यां शुद्रोऽजायत।।[1]

यही परिकल्पना परवर्ती पुराणों तथा स्मृतियों में भी लगभग यथावत् ग्रहण कर ली गई है। महाभारत के शान्तिपर्व, मनुस्मृति, वायुपुराण तथा विष्णुपुराण में भी पुरूष के विभिन्न अंगों से वर्णोत्पत्ति का सिद्धान्त प्रस्तुत हुआ है।

2. गुण एवं कर्म से वर्णोत्पत्ति का सिद्धान्तः इस सिद्धान्त का प्रतिपादन मुख्यतः भगवद्गीता में दृष्टिगोचर होता है। श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा है कि 'चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः'[2]।

शान्तिपर्व में उल्लेख आया है-

आदौ सर्वे जना ब्राह्मणा आसन्।
कालान्तरे कर्मभेदेन विविधवर्णवृतयोष्भवन्।

न विषेषोस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्मणमिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिवर्णतां गताम्।।

सत्त्व, रजस् और तमस्- ये त्रिगुण भिन्न-भिन्न[1] स्वरूप के होते हैं। इन गुणों के अनुपात के आधार पर व्यक्ति के कर्मों में भी स्वतः विभेद उत्पन्न हो जाता है। विष्णुपुराण में ब्राह्मणों में सत्त्वगुण की, क्षत्रियों में रजोगुण की, वैष्यों में रजोगुण-तमोगुण की एवं शूद्रों में तमोगुण की प्रधानता का उल्लेख है-

सत्याभिध्यायिनः पूर्वं सिसृक्षोब्रह्मणो जगत्।
अजायन्त द्विजश्रेष्ठ सत्त्वोद्रिक्ता मुखात्प्रजाः।।

वक्षसो रजसोद्रिक्तास्तथा वै ब्रह्मणोस्भवन्।
रजसा तमसा चैव समुद्रिक्तास्थोरूतः।।

पद्भ्यामन्याः प्रजाः ब्रह्मा ससर्ज द्विजसतम्।
तमः प्रधानस्ताः सर्वाष्चातुवर्ण्यमिदं ततः।।[4]

वायुपुराण में भी वर्णो के विभाजन का आधार सत्त्वादि तीन गुणों को कहा गया है।

3. रंगों से वर्णोत्पत्ति का सिद्धान्त : महाभारत के शान्तिपर्व में चारों वर्णों के भिन्न-भिन्न रंगों का वर्णन हुआ है-

ब्राह्मणानां तु सितो वर्णः क्षत्रियाणां तु लोहितः।
वैश्यानां पीतको वर्ण शूद्राणामसितस्तथा।।[5]

शोध छात्रा, कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा

किन्तु महाभारत के विभिन्न वर्णों के इन विभिन्न रंगों को वस्तुतः उनके सत्त्वादिगुण विशिष्ट स्वभाव के कारण कहा गया है।

4. व्यावसायिक उत्पत्ति का सिद्धान्तः इस सिद्धान्त के अनुसार बुद्धि के आधार पर व्यवसाय चलाने वाले विद्वान्, ऋषि आदि ब्राह्मण हुए।

बाहुबल के आधार पर आजीविकारत्त रहने वाले क्षत्रिय, व्यापार में लगे रहने वाले वैश्य तथा इन तीनों की सेवा-परिचर्या में रत रहने वाले शूद्र हुए।

कर्म (व्यवसाय) के आधार पर वर्ण-परिवर्तन के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं जैसे-विश्वामित्र, नाभाग, राजा शर्याति आदि।

5. समाज की आवश्यकतानुकूल वर्णोत्पत्ति का सिद्धान्तः उपनिषद् में वर्णित इस सिद्धान्त के अनुसार प्रारम्भ में अकेला ब्रह्म था, जो ब्राह्मण रूप था। उसने अकेले प्रगति न कर सकने के कारण कल्याण-कामना से एक और रूप बनाया जो क्षत्र रूप था। जिसमें इन्द्र, वरूण, सोम, रूद्र पर्जन्य, यम मृत्यु तथा इषान देवता समाविष्ट थे। तब भी सन्तुष्ट न होने पर उन्होंने वैष्णत्व का निर्माण किया, जिसमें वसु, आदित्य, विष्णुदेव तथा मरूत् देवता समाविष्ट थे। इतना होने पर भी न्यूनता अनुभव होने से उन्होने शूद्र के रूप में पूषण देवता का निर्माण किया।[6]

प्रारंभ में व्यक्ति की प्रकृति, रूचि और सामर्थ्य के अनुकूल विभिन्न कर्म निष्चित किए गये जो सभी समान स्तर पर स्वीकृत थे। परन्तु कालान्तर में विभिन्न कर्मो को ऊँच-नीच की दृष्टि से देखा जाने लगा। इस स्थिति में वर्ण भी उच्च और निम्न माने जाने लगे। फलतः वर्ण कर्मानुसार न होकर जन्मानुसार हो गये।

वर्णव्यवस्था का ऐतिहासिक क्रम

भिन्न-भिन्न युगों में कर्म, जन्म अथवा व्यवसाय वर्णव्यवस्था के आधार रहे हैं।

1. ऋग्वैदिक काल :- ऋग्वेद के दशम मण्डल का पुरूष सूक्त चारों वर्णों का स्पष्ट उल्लेख तो अवश्य करता है किन्तु वह भी समय की दृष्टि से अर्वाचीन माना जाता है। इन्हीं कारणों से इस युग में वर्णव्यवस्था की स्थिति आनुमानिक ही रह जाती है।

ऋग्वेद में ब्राह्मण शब्द अनेकषः प्रयुक्त तो हुआ है पर जाति के अर्थ में नहीं। उसका अर्थ जन्म से ब्राह्मण वर्ण का व्यक्ति न होकर एक वर्ग विशेष है। स्तुतियों एवं प्रार्थनाओं (ब्रह्म) के प्रणेता ब्राह्मण कहलाते थे। क्षत्रिय शब्द भी जाति अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। देवताओं की उपाधि अथवा राजा के अर्थ में क्षत्रिय शब्द उपलब्ध है।

पुरूष सूक्त में क्षत्रिय अर्थ में राजन्य शब्द का उल्लेख है। वैश्य शब्द भी ऋग्वेद में पुरूष सूक्त के अतिरिक्त और कहीं नहीं हैं किन्तु 'विष' का प्रयोग अनेक बार हुआ है और उसका अर्थ है-समूह अथवा जनदल। इन्द्र को मानवीय समूहों (मानुषीणां विषाम्) का नेता कहा गया है। ऋग्वेद में शूद्र शब्द भी केवल पुरूष सूक्त में आया है। ऋग्वेद में जिन दास जातियों का उल्लेख है वे आर्यो द्वारा हरा दिये गये और कालान्तर में आर्यो की सेवा करने लगे।

2. उत्तर वैदिक काल : इस काल में वर्ण शब्द का अर्थ रंग की अपेक्षा जाति अर्थ में सुनिश्चित रूप से प्राप्त होता है। ब्राह्मण एवं क्षत्रिय वर्ण को वैश्य अथवा शूद्र-दोनों की अपेक्षा अधिक सम्मानीय माना गया। यद्यपि वर्णो में परस्पर ऊंच-नीच का भाव आ गया था किन्तु छुआछूत अथवा अस्पृष्यता प्रारंभ नहीं हुआ था। अशुद्ध अथवा निम्न वंश के पुरूषों के ब्राह्मण हो जाने के उदाहरण प्राप्त होते हैं, जैसे- कवश, वत्स, सत्यकाम जाबाल आदि। वर्तमान युग में वर्णव्यवस्था को निर्धारित करने वाले तीन तत्त्व-पारस्परिक खान-पान, विवाह और जन्मगत वर्ण- उत्तर वैदिक युग तक दृढ़तया स्थापित नहीं हो पाये थे।

3. उपनिषद् तथा सूत्रकालः उननिषद् और स्त्रोत, गृह, तथा धर्मसूत्रों का समय प्रायः 600 ई.पू. से 400 ई.पू. तक ग्रहण किया जाता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में चारों वर्णों की उत्पत्ति प्रगति के आधार पर वर्णित है। छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार पूर्व जन्म के कर्म ही व्यक्ति के जन्म का आधार बनते हैं। इस प्रकार उपनिषदों में वर्णव्यवस्था अत्यन्त लचीले रूप में प्राप्त होती है। वर्णव्यवस्था का रूप सूत्रकाल में क्रमषः ही कठोर और जटिल होती गई। समाज में वैष्य एवं शूद्र का अपकर्ष हुआ। ब्राह्मणों का प्रभुत्व बढ़ा। वे सभी प्रकार के करों से मुक्त थे और अनिवार्यता होने पर राजा भी बन सकते थे। किन्तु क्षत्रिय पुरोहित नहीं बन सकते थे। शूद्रों को संस्कार और संन्यास ग्रहण का अधिकार नहीं था।[3] गृह सूत्रों में अस्पृश्यता का प्रारंभिक रूप प्राप्त होता है। धर्मसूत्रों में एक ही अपराध के लिए चारों वर्णों को भिन्न-भिन्न प्रकार से दण्डित करने का विधान किया गया। सम्पत्ति पर शुल्क और धन पर ब्याज भी वर्णविभेद से भिन्न-भिन्न थे। हीन जातियों के स्पर्श

से उत्पन्न कथित अपविपत्रता के लिए विभिन्न प्रायश्चितों का विधान किया गया।

4. महाकाव्य एवं स्मृतिकाल : ईसा पूर्व चौथी शती से दूसरी शती ईस्वी के प्रारंभ तक के 600 वर्षों में रामायण, महाभारत, कौटिल्य का अर्थशास्त्र तथा प्रारंभिक स्मृतियों का समय समाहित हो जाता है। इन छः सौ वर्षों के समय में वर्णव्यवस्था का सम्पूर्ण रूप स्थापित हो गया। साथ-साथ जाति-व्यवस्था का जटिल रूप भी समाज में स्वीकृत हुआ। स्मृतिकाल तक आते-आते मिश्रित वर्णों की संख्या बहुत बढ़ गई।

अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह, व्रात्य पुरूष से विवाह आदि से उत्पन्न संतान की जाति भिन्न हो गई। इन सब का मनु ने विशद् वर्णन किया है। मनु की इस व्याख्या को आधुनिक समाजशास्त्रियों ने स्वीकार नहीं किया है।

वर्ण के धर्म तथा विषेषाधिकार

धर्मसूत्रों और विशेषतया स्मृतियों मे चारों वर्णों के कर्तव्यों और विशेषाधिकारों का निरूपण है।

1. ब्राह्मण – इस वर्ण को ब्रह्मज्ञान की ओर उन्मुख रहने और सत्य की खोज में ही लीन रहने के कारण ब्राह्मण कहा गया। वेदों का स्वाध्याय, यज्ञ और दान- ये तो ब्राह्मण के शाष्वत धर्म है। वेदों को पढ़ाना, यज्ञमान का यज्ञ कराना और दान लेना उसकी जीविका के लिए कर्म हैं।

सत्य, मनोनिग्रह, तप और सोचाचार का पालन ये उसके सनातन धर्म है-

यजनं याजनं चैव तथा दानं प्रतिग्रहौ।
अध्यापनं चाध्ययनं शटकर्मा धर्मभाग द्विजः।।

नित्यं स्वाध्यायिता धर्मो धर्मो यज्ञः सनातनः।
दानं प्रषस्यते चास्य यथाशक्ति यथाविधिः।।[8]

इन वृत्तियों के अतिरक्त ब्राह्मण क्षत्रियवृत्ति एवं वैश्यवृत्ति तथा आपातकाल में शूद्रवृत्ति भी कर सकता है।

2. क्षत्रिय – महभारत में लिखा है कि क्षत्रिय का प्रथम धर्म प्रजारक्षण एवं पालन है। कालिदास ने लिखा है – ''क्षात्रात् किल त्रायत् इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दों भुवनेषु रूढः'' अर्थात् जो क्षत्र-आक्रमण, आपत्ति से रक्षा करता है वही क्षत्रिय है जो कि वैदिक राजन्य की प्रतिध्वनि है। महाभारत के क्षत्रिय कर्मों में प्रजा की आय के सष्ठ भाग का उपभोक्ता राजा धर्म का फल प्राप्त करता है।

क्षत्रिय के अन्य धर्म है –

क्षत्रियस्य स्मृतो धर्मः प्रजापालनमादितः।
निर्दिष्ट फल भोक्ता हि राजा धर्मेण पूज्यते।।
भृत्यानां भरणं धर्मः कृते कर्मण्यमोघता।
समयग्दण्डे स्थितिधर्मो वेद ऋतुर्क्रिया।
व्यवहार स्थितिधर्मः सत्यवाख्यरतिस्तथा।।[9]

3. वैश्य – महाभारत के अनुसार वैश्यों के धर्म है –

वैश्यस्य सततं धर्मः पषुपाल्यं कृषिस्तथा।
अग्निहोत्रं परिस्पन्दो दानाध्ययनमेव च।।
वाणिज्यं सत्पथस्थानमातिथ्यं प्रषमोदमः।
विप्राणां स्वागतं त्यागो वैश्यः धर्मः सनातनः।।[10]

समष्टि रूप से द्विजों का (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य)धर्म है –

द्विजातीनामृतं धर्मोह्येकश्चैवैक लक्षणः।
यज्ञाध्ययनदानानि त्रयः साधारणः स्मृता।।

4. शूद्र – शूद्रों के धर्मो का उल्लेख करते हुए महाभारत में कहा गया है कि –

शूद्रः धर्मः परोनित्यं शुश्रूषा च द्विजातीषु।
स शूद्रः संषिततया सत्यवादी जितेन्द्रियः!
सुश्रुषुरतिथिं प्राप्तं तपः संचिनुते महत्।।[11]

मनुस्मृति लिखता है –

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिषत्!
एतेषामेव वर्णानां सुश्रुषामनसूयया!!

वर्णव्यवस्था में परिवर्तन

परम्परागत समाज से आधुनिक समाज की दिशा में विकासोन्मुख भारत जिस संक्रमणकाल से होकर गुजर रहा है, उसके कारण वर्ण-व्यवस्था की मुख्य विशेषताओं जैसे – व्यवसाय, खान-पान की शुद्धता, विवाह के नियम आदि में काफी लचीलापन तथा विविधता परिलक्षित हो रहा है। अब व्यवसाय का चयन जन्म पर आधारित नहीं रहा।

ब्राह्मणों से संबंधित पौरोहित्य और कथित अछूतों से संबद्ध मरे जानवरों की खाल उतारने वाले व्यवसाय को छोड़कर अन्य व्यवसायों को अपनाने में काफी गतिशीलता आई है। खेती और व्यापार सबके लिए मुक्त हो गया है। बहुत कम स्थानों पर ब्राह्मणों का मुख्य कर्म पठन-पाठन और यज्ञ रह गया है।

खान-पान की कसौटी के आधार पर यह मान लिया जाता है कि ब्राह्मण का शाकाहारी होना अनिवार्य है। लेकिन वास्ताविक सामाजिक व्यवहार के अन्तर्गत बंगाल, असम, उड़ीसा, मिथिला तथा हिमालय के पर्वतीय अंचलों में रहने वाले ब्राह्मण प्रायः मांसाहारी हैं।

प्राचीन, मध्ययुगीन तथा आधुनिक राजघरानों की सामाजिक स्थिति पर विचार करें तो स्पष्ट होता है कि इनमें से अनेक क्षत्रिय नहीं थें। अपनी क्षमता

और शक्ति के आधार पर इन वर्णों ने क्षत्रिय वर्ण की सामाजिक स्थिति प्राप्त की। उन्होंने न केवल राजसत्ता पर कब्जा किया बल्कि वास्तविक क्षत्रिय घरानों के साथ शास्त्र-सम्मत रूप से विवाह करने में भी इन्हें सफलता प्राप्त हुई। नए व्यवसाय, नए कानून, औद्योगीकरण, नगरीकरण, वाणिज्य की वृद्धि, षिक्षा का प्रसार, मौद्रिक अर्थव्यवस्था आदि के कारण वर्णव्यवस्था में काफी परिवर्तन हुआ है।

परिस्थितियों में समान वितरण की भावना के मध्य भारतीय वर्णव्यवस्था का उद्‌भव हुआ था। जब तक पारस्परिक सहयोग की भावना रही-राष्ट्र और समाज सुखी रहा।

किन्तु जब से जन्मानुसार वर्ण-निर्धारण और समाज ऊँच-नीच की धारणा विकसित हुई-राष्ट्र और समाज विघटन की ओर अग्रसर हुआ। समाज का निरन्तर उत्कर्ष प्रायः रूक सा गया है। आज भारतवर्ष का प्रत्येक विचारक इस वैषम्योत्पादक प्रथा की आलोचना करता है। क्योंकि यह वर्णव्यवस्था भारतीय समाज के पुनरुत्थान में एक महान् बाधा है।

सन्दर्भ-सूची

1. ऋग्वेद 10/90/1-2,12
2. श्रीमद्‌भगवद्‌गीता 4/13
3. महाभारत, शान्तिपर्व 188/20
4. विष्णुपुराण 1/6/3-5
5. महाभारत, शान्तिपर्व 12/188/5
6. बृहदारण्यकोपनिषद्‌
7. पी.वी. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास-I
8. महाभारत, अनुशासनपर्व
9. महाभारत
10. महाभारत
11. महाभारत।

❖❖❖

संस्कृत

वैदिक वाङ्मय में निरूपित पर्यावरण संरक्षण: एक विवेचन

डॉ० नमिता कुमारी

वेद शब्द विद्-ज्ञाने धातु से 'घञ्' प्रत्यय द्वारा निष्पन्न है। अत: इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है- 'विदन्ति येन स वेद:' अर्थात् जिससे वास्तविक बात जानी जाय। यह वास्तविकता धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से सम्बन्धित है। इस पुरूषार्थ चतुष्टय का सम्यक् ज्ञान हमें वैदिकमन्त्रों द्वारा ही सम्भव हैं जैसा कि "विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते वा एमिधर्मादि पुरूषार्था:" इति अनिष्ट के परिहार के उपायों के ज्ञापक हैं। समस्त भारतीय ज्ञान, विज्ञान, धर्म-दर्शन, कला और संस्कृति आदि का मूल रूप वेदों में ही विद्यमान है। मन्त्र द्रष्टा वैदिक ऋषियों ने प्रकृति के महत्व का प्रतिपादन एवं रहस्य का उद्घाटन तत्सम्बद्ध सूक्तों में किया है। प्रत्येक सूक्त किसी देवता विशेष से सम्बद्ध है। अग्नि, वायु, आकाश, इन्द्र विष्णु मरूद्गण, स्तुतिपरक मन्त्रों में उनकी प्रसन्नता ओर अनुकूलता के लिए हार्दिक भाव हमारी रक्षा ओर अभिवृद्धि होती है। वेदों का महत्व उनमें ज्योतिष विषयों के निरूपम से विदित है।

आज कल पर्यावरण का अध्ययन हमारे लिए महत्पवूर्ण विषय है क्योंकि वैज्ञानिकों अविष्कार के दुरूपयोग औद्योगिक विकास एवं वन्य-वृक्षों-बगीचों के उन्नूलन से पर्यावरण प्रदूषित हो गया है। ध्यातव्य है कि पर्यावरण तथा उनके संरक्षण के विषय में हमारे ऋषियों ने वेदों में क्या विचार व्यक्त किया है।

ज्ञात है कि ज्ञान-राशि वेद को महर्षि व्यास ने विषयानुसार चार रूपों में विभक्त किया- ऋग्वेद संहिता, यजुर्वेद संहिता, सामवेद संहिता ओर अथर्ववेद संहिता निष्पन्न होता है। जिस आवरण से लोक या जीव सब ओर से आवृत रहते हैं। उसे पर्यावरण कहते हैं। यह आवरण पंच-महाभूतों और तन्मात्राओं का है। यह पंच महाभूतों (पर्यावरणीय घटकों) की शुद्धता एवं सम्पन्नता पर हमारे जीवन की स्वस्थता सुदृढ़ता एवं सुसम्पन्नता निर्भर है। ऋषियों का कथन है -

चक्षुपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।

सत्यपूतं वदेत् वाचं, मन: पूतं समाचरेत्।। (प्रसिद्ध उक्ति)

वैदिक देवताओं को तीन कोटियों में रखा गया है पृथ्वी स्थानीय, अन्तरक्षि- स्थानीय और द्यूस्थानीय। ये देवता मानवजीवन और पर्यावरण में संतुलन बनाये रखते हैं। पर्यावरण की शुद्धता के लिए ही वैदिक यज्ञों की व्यवस्था की गयी थी। वैदिक जीव यज्ञप्रधान जीवन था। इसका स्पष्टत: उल्लेख गीता में श्रीकृष्ण ने किया है-

सहयज्ञा: प्रजा: सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापति:।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽसित्तवष्टकामधुक्।। (गीता 3/10)

देवान्भावथतानेन ते देवा भावयन्तु व:।
परस्परं भावयन्त: श्रेय: परमावप्यवस्था।। (गीता-3/11)

इष्टान्भोगान्हि वा देवा दास्यन्ते यज्ञभाविता।। (गीता-3/12)

द्यावापृथ्वी के स्तवन में दीर्घतमा ऋषि कहते हैं -

तेहि द्यावा पृथिवी विश्वशंभुव ऋतावरी रजसो धारयत्कवी।
सुजन्मनी धिषणे अन्तरीयते देवी धर्मणा सूर्य मूचि:''।।
(ऋग्वेद 8/1/60)

अर्थात् ये द्यावापृथिवी सभी को समृद्धि देते है, वे लोकों को सहारा देने वाले हैं, वे पवित्र और बुद्धिमान् है। वे सुजन्मा और अपने अपने कार्य में प्रगल्भ हैं। देदीप्यमन सूर्य देवता धर्मानुसार इन दो देवियों के मध्य में विचरण करता है।।

पर्यावरण की रक्षा पूजा का एक अविभाज्य अंग था, जैसी कि कहा भी गया है । -

यस्य: भूमि: प्रमाऽन्तरिक्षमुतोदरम्।

दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नम:।।
(अथर्ववेद 10/7/32)

अर्थात् भूमि जिसकी पादस्थानी और अन्तरिक्ष उदर के समान है तथा द्यलोक तथा द्यूलोक जिसका मस्तक है, उन सबसे बड़े ब्रह्मण को नमस्कार है।

ऋग्वेद में वर्षा-ऋतु को उत्सव मानकर शस्य-श्यामला प्रकृति के साथ अपनी हार्दिक प्रसन्नता अभिव्यक्ति की गई है-

जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा

ब्राह्मणासौ अतिरात्रे न सोमे सरो न पूर्णमभितो वदन्तः।

संवत्सरस्य तदह परिष्ठ यन्मण्डूकाः प्रावृषीणं वभूव।। (ऋग्वेद 7/130/7)

वेदों में पर्यावरण को अनेक वर्गों में बाँटा जा सकता हैं -

(1) वायु,

(2) जल

(3) ध्वनि

(4) खाद्य और मिटी वनस्पति, वनसम्पदा पशु पक्षी संरक्षण आदि।

सजीव जगत् स्थान है। बिना प्राणवायु (ऑक्सीजन) के क्षणभर भी जीवित रहना सम्भव नहीं है। हमारे शरीर के अन्दर रक्त वाहिनियों में बहता हुआ रक्त बाहर की तरफ दबाव डालता रहता है, यदि इस संतुलित नहीं किया जाए तो शरीर की सभी धमनियाँ फट जाएगी तथा जीवन नष्ट हो जाएगा। वायु का सागर इससे हमारी रक्षा करता है। पेड़-पौधे ऑक्सीजन देकर क्लोरोफिल की उपस्थिति में, इसमें से कार्बनडाइऑक्साइड अपने लिए रख लेते हैं और ऑक्सीजन हमें देते है। इस प्रकार पेड़-पौधे वायु की शुद्धता द्वारा हमारी प्राण रक्षा करते है।

वायु की शुद्धि पर बल

वायु की शुद्धि जीवन के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इस तत्व को यजुर्वेद में कहा गया है-

तून्नपादसुरो विश्ववेदा देवो देवेषु देवः। पथो अनुक्त मध्वा घृतेन।।

(यजुर्वेद 27/12)

अर्थात् उत्तम गुणवाले पदार्थो में उत्तमगुणवाता प्रकाश रहित तथा सबको प्राप्त होनेवाले। (तनूनपात) जो वायु शरीर में नहीं गिराता, वह कामना करने योग्य मधुज जल के साथ श्रोज आदि मार्ग को प्रकार करें, उसको तुम जानो।

वायु को शुद्ध तथा अशुद्ध दो भागों में बाँटा गया है-

(1) श्वास लेने योग्य शुद्ध वायु तथा

(2) जीवमात्र के लिए हानिकारक दूषित वायु -

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः। दक्षं ते अन्य आ वातु परान्यो वातु यद्रपः।।

(ऋग्वेद, 10/137/2)

अर्थात् प्रत्यक्षभूत दोनों प्रकार की हवाएँ सागर पर्यन्त और समूद्र से दूर प्रदेशपर्यन्त बहती रहती है। हे साधक। एक तो तेरे लिए बल को प्राप्त करती है और एक जो दूषित है, उसे दूर फेंक देती है।

जल-प्रदूषण उसका निदान

जल मानव-जीवन में पेय के रूप में एवं धोने में वस्तुओं को ठंठा रखने तथा गर्मी से राहत पाने, में विद्युत उत्पादन में, नदियों-झीलों और समूद्र में सवारियों और सामानों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाने के लिए भाप-इंजनों को चलाने में, अग्नि बुझाने में कृषि, सिंचाई तथा उद्योगों और भोजन बनाने में अति आवश्यक है।

सभी जीवधारी जल का उपयोग निरन्तर करते रहते है, जल के बिना सम्भव नहीं है। औद्योगिककरण के परिणामस्वरूप कल कारखानों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि कारखानों से उत्पन्न अपशिष्ट पदार्थ-कूड़ा करकट, रासायनिक अपशिष्ट आदि नदियों में मिलते रहते हैं। समूद्र में परमाणु विस्फोअ से भी जल प्रदूषित हो जाता है।

वेदों में जल-प्रदूषण का वर्णन मिलता है। कहा गया है कि मकान के पास ही शुद्ध जल से भरा हुआ जलशय होना चाहिए।

इमा आपः भराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः। गुहनुप प्रसीदाम्यभूतेत सहागिन्ना।।

(अथर्ववेद 3/12/9)

अर्थात् अच्छे प्रकार से रहित तथा रोगनाशक इस जल को मैं लाता हूँ। शुद्ध जलपान करने से मैं मृत्यु से बचा रहूँगा। अन्न, घृत, दुग्ध, आदि सामग्री तथा अग्नि के सहित घंटों में आकर अच्छी बैठता हूँ।

शुद्ध जल मनुष्य को दीर्घ, आयु प्रदान करने वाला, प्राणों का रक्षक तथा कल्याणकारी हैं यह भाव ऋग्वेद के ऋचाओं में मिलता है-

शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शं योरभि स्त्रवन्तु नः।। (ऋक. 9/9/4)

अर्थात् सुरतमय जल हमारे अभीष्ट की प्राप्ति के लिए तथा रक्षा के लिए कल्याणकारी हो। जल हम सुख-समृद्धि की वर्षा करें।

जल चेहरे का सौन्दर्य तथा कोमलता ओर कान्ति बढ़ाने में औषधिरूप हैं, भोजन के पाचन में अधिक जल पीना आवश्यक है, इस का वर्णन अथर्ववेद के निम्न ऋचा में मिलता है -

आपो भद्रा घृतमिदाप आसन्नग्रीषों विभ्रत्याप इताः।

तीव्रो रसो मधु पृचामरंग्म आ मा प्राणेन सह वर्चसा गमेत्।।

(अथर्ववेद 3/13/5)

अर्थात् जल मंगलमय और घी के समान पुष्टि दाता है वही मधुरता जलधाराओं

का स्रोत भी है। भोजन को पचाने में ही उपयोगी तीव्र इस है, प्राण और कान्ति, बल और पौरुष देनेवाला अमरता की ओर ले जानेवाले मूल तत्व है।

खाद्य पदार्थ-प्रदूषण से बचाव

वेदों ने खाद्य के सम्बन्ध में वैज्ञानिक आधार पर निष्कर्ष बताया है। मनुष्य पाचनशक्ति से भोजन को भलीभाँति खुद पचाये, जिससे वह शारीरिक और आत्मिक बल बढ़कर उसे सुखदायक बना सकें। इसी प्रकार पेय, पदार्थों, जैसे जल-दूध इत्यादि के विषय भी उल्लेख है-

यत् पिवामि सं पिबामि समद्र इव संपविः।
प्राणानमुष्य संपाय सं पिबामो अभुं वयम्।।

अर्थात् मैं जो कुछ पीता हूँ, यथा विधि पीता हूँ जैसे यथाविधि पीने वाला समूद्र पचा लेता है। दूध जल जैसे पेय पदार्थ पेय पदार्थो को हम उचित रीति से हीपिया करें। जो कुछ खायें, अच्छी तरह चबाकर खायें।

यद् गिरामि सं गिरामि सं गिरामि
समूद्रइव संगिरः
प्राणानमुष्य संगीर्य सं गिरामो अमुं
वयम्।। (अथर्ववेद 135/3)

मिट्टी पृथ्वी एवं वनस्पतियों में प्रदूषण की रोकथाम

अथर्ववेद के 12वें काण्ड के प्रथम भारत में पृथ्वी का महत्व प्रदर्शित किया है । सभी पृथ्वी के पुत्र है। कहा गया है-

माता भूमि पुत्रों अहं पृथिव्याः।

पृथ्वी के अन्दर नाना प्रकार के फल, औषधियाँ फसले, अनाज, पेड़-पौधे इसी मिट्टी पर उत्पन्न होते हैं। उनपर ही हमारा भोजन निर्भर है। अतः पृथ्वी को हम माता के समान आदर दें -

यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमापंच कृष्ट्यः।
भूम्यै पर्जन्यपत्नयै नमोऽस्तु वर्षमेदसे।।
(अथर्ववेद 12/1/42)

ध्वनि प्रदूषण और उसका निदान्त

भजन, कीर्तन, धार्मिक, गीत-गान, धर्मग्रन्थों का पाठ, रामायण, मीरा कबीर के भक्ति प्रधान भजन उपयोगी है। संगीत भक्ति-पूजा का एक महत्वपूर्ण अंग है। खेद है कि आज कल ध्वनि के साधन का दुरपयोग हो रहा है। रेडियो, टी.वी., ट्रांजिस्टर प्रसारक ध्वनि यन्ज जोर-जोर से सारे दिन कान फाड़ते रहते हैं। इससे सिरदर्द, तनाव अनिद्रा आदि फैल रहे हैं ।

वेदों में कहा गया है कि हम स्वास्थ्य की दृष्टि से अधिक तीखी ध्वनि से बचें, आपस में वार्ता करते समय धीमा एवं मधुर बोलें-

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमृत स्वसा।
समयञ्चः सव्रता भूतवा वाचं वदत भद्रया।।
(अथर्ववेद 3/30/3)

अर्थात् भाई-भाई से बहन से अथवा परिवार में कोई भी एक दूसरे से द्वेष न करें । सब सदस्य एकमत और एकव्रती होकर आपस में शान्ति से भद्र पुरूषों के समान मधुरता से बातचीत करें -

जिह्वा अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्।
ममेदह क्रतावसो मम चितमुपायसि।।
(अथर्ववेद 1/34/2)

उपर्युक्त विवेचन से यह भली-भाँति ज्ञात होता है कि वैदिक वाङ्मय में पर्यावरण और उसके संरक्षण के सम्बन्ध में ऋषियों ने न केवल सिद्धान्तों का कहीं निरूपण किया था अपितु उनका व्यवहारिक रूप भी प्रदान किया था। प्राकृतिक उपादानों में उन्होनें जिन दैनी शक्तियों की सत्ता कल्याण होता था। अग्नि, जल, वायु, आकाश, पृथ्वी, पर्वत, पेड़-पौधे नदियाँ, एवं औषधियाँ मानव जीवन को शक्ति प्रदान करती है। उनसे लाभान्वित होने वाले मुनिषियों ने उनके संरक्षण को भी आवश्यक बताया है।

❖❖❖

सविनय अवज्ञा आन्दोलन के दौर में किसान आन्दोलन

डॉ० अमर कान्त सिंह

1930 के दशक के मध्य में किसानों में उल्लेखनीय जागरूकता पैदा हुई और अखिल भारतीय किसान सभा ने वाम ताकतों को अखिल भारतीय स्तर पर किसानों को लामबंद करने का अवसर दिया। यहां किसानों की गतिविधियों का जिनका स्वयं कांग्रेस के प्रचार से सीधा संबंध था और किसानों की जागरूकता के संबंध में अनुदार कांग्रेसी नेतृत्व द्वारा प्रयुक्त नीतियों का विश्लेषण किया जा रहा है। देहातों में कांग्रेसी चुनाव प्रचार आर्थिक मामलों को विशेष रूप से उछालने पर टिका हुआ था। इसे बताने के पर्याप्त सबूत है। 1937 में नेहरू ने कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं को निर्देश दिया कि फैजपुर कृषि कार्यक्रम का विशेष महत्त्व है और हमारे देहात के मतदाताओं का विशाल हिस्सा और दूसरे इसे पसंद करेगें। उन्होंने जोर देकर कहा कि इसे ''हमारे चुनाव प्रचार में विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में महत्वपूर्ण स्थान हासिल करना चाहिए।[1] इलाहाबाद के ग्रामीणों के बीच प्रचार करते हुए उन्होंने कहा कि, भारत में सिर्फ दो ही दल है - एक वे जो जनता के लिए लड़ रहे हैं और दूसरे वे जो जनता के खिलाफ हैं। उनके पास (जनता) गरीबी की समस्या को सुलझाने की ताकत नहीं है। कुछ मुट्ठी भर लोग उन पर शासन कर रहे थे ... चाहे वे शासक भारतीय हों या अंग्रेज। वे सिर्फ इतना जानते थे कि अपने उद्देश्यों को आगे कैसे बढ़ाएँ ... कांग्रेस परिषदों में इसलिए जा रही थी ताकि सरकार का समर्थन करने वाले खान बहादुरों, राजबहादुरों और नबावों को दूर रखा जा सके।''[2]

सरदार पटेल ने किसानों से कहा कि यह कांग्रेस का प्रयास ही है जो उसे देर-सवेर गरीबी की दलदल से बाहर निकालने का प्रयास करेगा जिसमें कि वह धंसा हुआ है।[3] चुनाव के समय दक्षिणपंथी नेतृत्व और उनके सहयोगियों की उम्मीदों से अधिक फैजपुर कार्यक्रम की चर्चा हो रही थी क्योंकि किसान कांग्रेस के साथ एकजुट हो रहे थे। संयुक्त प्रांत का उदाहरण उन अनेक उदाहरणों में से एक है जो बताते हैं कि क्यों और कैसे किसानों की उम्मीदें बढ़ गई थीं। "कांग्रेस के कार्यकर्त्ता नोटबुक ले जा रहे हैं और काश्तकारों से पूछते हैं कि लगान क्या है? काश्तकार बताता है शायद दो रुपया प्रति बीघा। कांग्रेसी कार्यकर्त्ता कहता है ठीक है। यदि तुम कांग्रेस को वोट दोगे तो तुम्हारा लगान चार आना हो जाएगा। वह अपनी नोट बुक में लिख लेता है और बदकिस्मत किसान इससे पूरी तरह प्रभावित हो जाता है।"[4] इस प्रचार का एक मजेदार पक्ष यह उभरा कि संयुक्त प्रांत के कई गांवों के किसानों ने इसलिए वोट दिया कि वे उसे गांधी की पार्टी मानते थे और यह कि गांधी स्वयं उम्मीदवार हैं।[5] बिहार में ''कुछ मतदाता पेटी को गांधी का लेटर बॉक्स समझते हुए मतपत्र के साथ अपनी अर्जिया भी डाल देते थे।[6] 1937 के चुनावों में कांग्रेस की जीत के कारण राज्यपालों ने 'गांधी का नाम' और लगान नहर कर तथा चौकीदारी कर में बेतहाशा कमी के कांग्रेसी वादे बताए।''[7] वस्तुतः यह गीत आर्थिक मसलों के साथ राष्ट्रीय भावनाओं को जुड़ जाने से हुई और इसमें आर्थिक मसलों ने एक निर्णायक भूमिका अदा की। बंगाल में कांग्रेस की असफलता अन्य कारणों के अतिरिक्त इस कारण से भी हुई क्योंकि यहां किसान प्रजा कृषक पार्टी द्वारा प्रस्तुत आर्थिक कार्य-क्रम की तुलना में कांग्रेस के भूस्वामी समर्थकों से खुश नहीं थे।[8] बंगाल में कांग्रेस स्वराज पार्टी के दिनों से ही जमींदार समर्थक नीति को बढ़ा रही थी। यही बाद में राजनीतिक नियंत्रण पर वर्चस्व रखने वाले कारक सांप्रदायिकता के उभार का सहायक घटक बना। कुछ ऐसी ही स्थिति पंजाब में थी।

अंतरिम मंत्रिमंडल काल में कांग्रेस में सरकार बनाने के समर्थक गुट ने किसानों की भावनाओं को इस्तेमाल मंत्रिमंडल निर्माण के लिए किया। संयुक्त प्रांत में जब छतारी के नवाब ने मंत्रीमंडल बनाया तो कांग्रेसी नेताओं ने किसानों को लगान न देने के लिए प्रोत्साहित किया। उन्होंने किसानों को विश्वास दिलाया कि कांग्रेस के सत्ता संभालते ही सभी बकाया माफ कर दिया जायगा।[9] जब कांग्रेस के लिए सचमुच ऐसा करने

अध्यक्ष, इतिहास विभाग, मुरारका कॉलेज, सुल्तानगंज, भागलपुर

का अवसर आया तो उसने किसानों को सलाह दी कि वे 'तत्काल लगान जमा करें' अन्यथा उन्हें बेदखल कर दिया जाएगा।[10] इसी तरह से बिहार में किसान जांच समिति को सत्ता में आने के औचित्य प्रदान करने के लिए पुनर्गठित किया गया। बिहार के राज्यपाल ने वायसराय को सूचित किया - 'यह महत्वपूर्ण है कि उन्होंने जितनी भी बैठकें की उनमें उन्होंने किसानों की शिकायतों पर विशेष ध्यान नहीं दिया। ... किन्तु अपने भाषणों में सत्ता संभालने के संदर्भ में अवश्य उललेख किया गया।'[11] कांग्रेस द्वारा किसानों की लामबंदी के अध्ययन बताते हैं कि असहयोग आंदोलन के पहले से ही कांग्रेस के नेता अंग्रेजों के इस प्रचार को कि कांग्रेस के सीमित प्रतिनिधित्व है कि काट के लिए अपने ग्रामीण अनुयायियों का प्रदर्शन कराने को उत्सुक थे। अधिवेशनों में किसान प्रतिनिधियों को देखकर उन्होंने 'प्रसन्नता' व्यक्त की किन्तु वे उनकी मांगों के प्रति उदासीन ही बने रहे।

असहयोग के दिनों में आर्थिक मसले किसानों को लामबंद करने के लिए उठाये जाते थे। स्वराज के नाम पर सभी तरह के वादे किए जाते थे, किन्तु उद्देश्य आर्थिक मसलों को एक ओर धकेलने का होता था।[12] चरखे को सभी बीमारियों के इलाज के रूप में पेश किया जाता था और गांधी एक डॉक्टर थे जिन्होंने इसका सुझाव दिया था। ऐसी ही स्थिति सविनय अवज्ञा आन्दोलन और 1937 के चुनावों के दौरान भी बनी रही। किसानों के बारे में कांग्रेस के रुख का विश्लेषण करना ऐसे दौर में अत्यंत महत्वपूर्ण होगा जब कोई आंदोलन या अंग्रेजों के खिलाफ सीधा संघर्ष नहीं चल रहा था। 1937 और 1939 के बीच की अवधि जब कांग्रेस सत्ता में थी हमें अध्ययन का अच्छा अवसर प्रदान करती है। 1937 में नेहरू का मानना था - ''भारत की सर्वाधिक महत्वपूर्ण समस्या किसान समस्या है, बाकी सब गौण है।'' उन्होंने अनुभव किया कि कांग्रेस मंत्रिमंडल ने किसानों को नयी आशा और नया जीवन प्रदान किया था। जबकि बड़े जमींदार और तालुकेदार किसानों के एक लम्बे समय से स्थगित न्याय का प्रतिरोध करने के लिए संगठित हो रहे थे। उन्होंने जोर देकर कहा कि ''हमें अपनी प्रतिज्ञाओं के प्रति ईमानदार रहना है और किसानों की आशाओं को संतुष्टि और पूर्णता प्रदान करनी है।''[13] किसानों और किसान सभाओं ने कांग्रेस अध्यक्ष के इन सार्वजनिक वक्तव्यों का स्वागत किया और कांग्रेस मंत्रिमंडल के तत्वाधान में फैजपुर कृषि कार्यक्रम को लागू किए जाने का उत्सुकता से इंतजार करने लगें। कांग्रेस अध्यक्ष के वक्तव्यों और कांग्रेस के कृषि कार्यक्रम का कांग्रेसी दक्षिणपंथी नेताओं पर कोई असर नहीं हुआ। एक बार सत्ता में पहुंचने के बाद यह नेतृत्व सामान्यत: वाम को और विशेषत: किसान सभा को नियंत्रित करने के साधनों और रास्तों की तलाश करने लगा। सरदार पटेल ने राजेन्द्र प्रसाद को एक पत्र लिखा - ''किसान सभा भविष्य में बहुत बड़ी बाधा उत्पन्न करेगी और मेरा पक्का मत इसके गठन के विरूद्ध रहा है। वे समय का इंतजार कर रहे हैं जब वे हमें हटा सकेंगे। इसलिए मैं उनको महत्व नहीं देता हमें कलकत्ता में स्थिति का संभलकर सतर्कता से सामना करना होगा। कुछ महीनों बाद हम उनके द्वारा पैदा की हुई स्थिति को नियंत्रित करने के योग्य नहीं रहेंगे।''[14] अक्टूबर 1937 में कलकत्ता की अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की बैठक में दक्षिणपंथियों ने शिद्दत से महसूस किया कि उन्हें संगठित होना चाहिए। जयरामदास दौलतराम की सलाह कि ''हमें अब अधिक बैठके नहीं होना चाहिए'' को क्रियान्वित किया गया।[15] यह हिदायत जारी की गई कि सभी परंपरावादी कार्यक्रम वालों को मिलजुल कर काम करना चाहिए' अन्यथा ''भाविष्य में बहुत बड़ी कठिनाई'' आ सकती है।[16] पटेल ने प्रसाद को स्पष्ट भाषा में लिखा कि ''बापू प्रसन्न नहीं हैं ... हरिपुरा में हमें किसी भी तरह से संघर्ष करना होगा... कृपया प्रतिनिधियों के चुनाव पर नजर रखें। सभी गांधी विरोधी तत्वों को निकाल बाहर कीजिए। संयुक्त मोर्चे के नाम पर अव्यवस्था की ताकतों को हम सहन नहीं करेंगे। हमारी सहनशीलता का वे नाजायज फायदा उठा चुके हैं किन्तु अब दृढ़ कदम उठाने का समय आ गया है।''[17]

प्रसाद ने पटेल को विश्वास दिलाया - ''मैंने जिलों में मित्रों को कहा है कि वे आपके सुझाव अनुसार सजग रहें और संगठित हों।''[18] स्पष्ट गांधी के वफादार अनुयायी वाम को सांगठनिक ढांचे में आगे न बढ़ने देने को सुनिश्चित कर लेने में व्यस्त रहे थे। किसान समर्थक कांग्रेसियों के लिए कांग्रेस में काम करना अत्यंत मुश्किल हो गया था। अंग्रेज सरकार ''कृषि खतरे से चितिंत थी, इसलिए वह कांग्रेसी मंत्रियों को किसान सभा के विरुद्ध कार्रवाई करने को उकसाती थी। वायसराय ने बिहार के गवर्नर को कहा कि वह अपने मंत्रियों को ''इन दिनों को बुरे रूप में पेश करें'' और कहें कि पहले के अच्छे दिनों में कैसे इस तरह की बकवास सरकार रोक लेती थीं।''[19] यह कहानी

निश्चय ही कही गई होगी। इसीलिए कि गवर्नर ने गर्व के साथ उत्तर दिया। "मुझे लगता है कि मेरे मंत्री खतरे का पूरी तरह अनुभव करते हैं। वे मुख्य किसान नेताओं पर नजर रखने को तैयार हैं तथा इसके लिए भी तैयार हैं कि उनके भाषणों की रिपोर्ट की जानी चाहिए।"[20] कांग्रेसी मंत्री वास्तव में गवर्नर की सलाह से भी ज्यादा कुछ करने को उत्सुक थे। यहाँ तक कि उन्होंने किसानों नेताओं के पत्र-व्यवहार को बीच में (सी॰आई॰डी॰ द्वारा) रोके जाने का भी समर्थन किया।[21] बिहार प्रदेश कांग्रेस कमिटी ने कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं के किसान सभा में भाग लेने पर प्रतिंधब लागू कर दिया। सरदार पटेल ने इस कार्रवाई का स्वागत किया - "व्यक्तिगत रूप से मैं अनुभव करता हूं कि यह कार्रवाई बहुत पहले हो जानी चाहिए थी। किन्तु देर आए दुरूस्त आये। मैं आशा करता हूँ कि मामलों को सुधारने के लिए स्वामी (सहजानंद) जो बहुत अनिष्ट कर रहा है उससे बचने के लिए अभी बहुत देर नहीं हुई है।"[22]

बिहार प्रदेश कांग्रेस कमिटी के सदस्य और बिहार किसान सभा के अध्यक्ष सहजानंद को चंपारण, सारण और मुंगेर जिलों की कांग्रेस कमिटियों ने निर्देश दिया कि वे उनके जिलों की यात्रा न करें। स्थानीय कांग्रेसियों को धमकी दी गई कि यदि वे उसकी बैठकों में गए तो उनके विरुद्ध अनुशात्मक कार्रवाई की जाएगी।[23] यह प्रतिबंध उस समय लगाया गया जब दक्षिणपंथी कांग्रेसियों ने जमींदारों के साथ समझौते पर हस्ताक्षर किए थे। उन दोनों के किसान आंदोलन को कुचलने के लिए आपस में गठजोड़ कर लिया था। यहाँ चंद्रेश्वर प्रसाद सिंह द्वारा राजेन्द्र प्रसाद को लिखे गए पत्र को उद्घृत करना महत्वपूर्ण होगा - ''मैं आपके विचारों से पूरी तरह सहमत हूँ कि जहाँ हमें मिलकर कार्रवाई करने से लाभ होता है, वहां हमें मिलकर काम करना चाहिए। मेरी पूर्ण इच्छा हैं कि इस संबंध में आपको पूरा सहयोग दूँ।''[24]

जमींदारों के एजेन्टों और दक्षिणपंथियों के अनुयायियों ने जिलों में सहजानंद की यात्रा को असफल करने की अपनी ओर से भरसक कोशिश की किन्तु किसानों ने बड़ी संख्या में पहुंचकर उनकी कोशिशों को विफल कर दिया। यह घटना अन्य कारणों से भी महत्वपूर्ण थी। सहजानंद बिहार कांग्रेस समिति के सदस्य थे किन्तु दक्षिणपंथियों के समर्थन से निचले स्तर की कांग्रेस समितियों ने उनके विरूद्ध कार्रवाई की। प्रदेश कांग्रेस समिति ने बाद में इस कार्रवाई का समर्थन किया। किसान सभा को अपना पक्ष रखने का कोई अवसर नहीं दिया गया। सहजानंद ने नागरिक स्वतंत्रता का मामला उठाया।[25] किन्तु प्रसाद और पटेल सभी स्तरों पर किसान सभा का विरोध करने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ थे।

बम्बई में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति में बिहार प्रदेश कांग्रेस समिति की कार्रवाई पर विचार हुआ। प्रसाद जानते थे कि ''हम अभियुक्तों की स्थिति में होंगे और हमें अपना बचाव करने के लिए तैयार रहना चाहिए।'' उन्होंने बिहार के प्रधानमंत्री से किसान सभा नेताओं की गतिविधियों से संबंधित सी.आई.डी. रिपोर्ट एकत्र की।[26] इस पर पटेल, प्रसाद, आजाद, राजगोपालाचारी और जमनालाल बजाज ने गांधी के साथ विचार विमर्श किया।[27] बिहार के प्रधानमंत्री ने पटेल से कहा कि वर्किंग कमिटी ने हर कदम की निंदा करने की बजाय यदि उनका सुख-दु:ख से पूरा समर्थन करें तो वे बिहार का बेहतर संचालन कर सकते हैं।[28] उस दौरान ही प्रधानमंत्री ने बिहार के गवर्नर को आश्वस्त किया कि जब तक गांधी जीवित हैं वह (कांग्रेस वर्किंग कमिटी का) समर्थन हासिल कर लेंगे।''[29] किसान सभा और उसके नेताओं को अपना पक्ष रखने को कहे बिना कांग्रेस वर्किंग कमिटी ने बिहार प्रदेश कांग्रेस कमिटी की कार्रवाई का अनुमोदन कर दिया।

दक्षिणपंथियों ने स्वामी सहजानंद पर जिस बड़े अनिष्ट का अभियोग लगाया, अगर इस पर गौर करें तो स्पष्ट होता है कि व्यवहार में, उन्होंने, किसानों को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक बनाया, उन्हें संगठित किया उन्हें बड़ी संख्या में कांग्रेस में शामिल होने के लिए प्रेरित किया और मंत्रियों को बहु प्रचारित फैजपुर कृषि कार्यक्रम को लागू करने की याद दिलाई। कांग्रेस के नेताओं से चुनावों के समय किए गए वादों को पूरा करने को कहा; जमींदारों की हिंसा के विरूद्ध आत्मरक्षात्मक तरीके अपनाने को कहा। इस प्रकार, सहजानन्द न सिर्फ अंग्रेजों के खिलाफ लड़ रहे थे, वरन् भारतीय समाज में उनके सहयोगियों से भी संघर्ष कर रहे थे। इसे ही कांग्रेस सिद्धांतों के विरूद्ध काम करने और कांग्रेस का अनुशासन तोड़ने की संज्ञा दी गई।[30] किसान सभा पर भी आरोप लगाया गया कि वह उन असंतुष्ट तत्वों को आश्रय दे रही है जिनका रुख कांग्रेस के प्रति द्वेषपूर्ण है, किन्तु इस संदर्भ में कभी भी किसी का नामोल्लेख नहीं किया गया। दूसरा आरोप यह लगाया गया कि किसान सभा हिंसा का प्रचार करती है और वर्ग युद्ध का माहौल बना रही है।[31] जबकि किसान सभा ने जमींदारों पर हमला करने के लिए प्रेरित नहीं किया। इसके विपरीत, किसानों को

आत्मरक्षात्मक उपाय को अपनाने की सलाह दी गई जैसे जबरदस्ती बेदखली के समय किसान खेत में लेट जाए। वस्तुत: दक्षिणपंथियों के लिए संघर्ष के गांधीवादी तरीके भी अगर जमींदारों के विरूद्ध अपनाए जाए तो वे हिंसा के समान थे। दक्षिणपंथियों के लिए किसान सभा से सलाह मशविरा लेना ही कांग्रेस नीति के विरूद्ध जाना और जमींदारों के साथ समझौता करना ही अनुशासन था। किन्तु यदि किसान इस भटकाव का विरोध करने के लिए परिषदों तक शांतिपूर्ण मार्च करें और कांग्रेस द्वारा किए गए वादों को लागू करने की मांग करे तो यह 'अुनशासनहीनता' थी।

सन्दर्भ-सूची

1. बांबे क्रानिकिल (26 जून 1937)
2. वही, जिन किसानों ने कांग्रेस का समर्थन किया, चुनावों के बाद उन्हें जमींदारों के दमन का और अधिक सामना करना पड़ा। बांबे क्रनिकिल (1937), संघर्ष (19 सितम्बर 1937)
3. लिनलिथिगो को हेग का पत्र, (29 अक्टूॅबर 1936) (एल॰पी॰) सं॰ 112
4. बांबे क्रानिकिल (13 फरवरी 1937)
5. जेम्स सिफटन का पत्र लिनलिथगो को (9 फरवरी 1937 (एल॰पी॰) सं॰ 112
6. वही
7. इंडियन एनुअल रजिस्टर, 1936, वास्तव में इस अवधि में किसानों के वोट के महत्व काफी बढ़ गया था, यहां तक कि हिन्दू महासभा और मुस्लिम लींग जैसे सांप्रदायिक संगठनों ने भी यह घोषणा करके कि वह किसानों के लिए काम करने को तैयार हैं, उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करने की कोशिश की।
8. क्वार्टर्ली सर्वे पॉलिटिकल एण्ड कांस्टिट्यूशनल पोजिशन इन इंडिया सत्र/(एल॰पी॰) सं॰ 142
9. अमृत बाजार पत्रिका (2 जनवरी 1938). हिन्दुस्तान टाइम्स (1 जून 1938), पाक्षिक रपट के अनुसार कांग्रेसी आमतौर पर काश्तकारों का लगान देने के लिए राजी करने में सहायक थे। होम पॉलिटिकल सं॰ 18/1/1938, एन॰ए॰आई॰
10. लिनलिथगो को हेलेट का पत्र (10 मई 1937), (एल॰पी॰) सं॰ 143
11. देखिए, कपिल कुमार, पीर्जेट्स इन रिवोल्ट, पृ॰ 230
12. ए॰आई॰सी॰सी॰ पेपर्स पी-9 (1937)
13. वही
14. प्रसाद का पटेल को पत्र (2 अक्टूबर 1937), राजेन्द्र प्रसाद, पत्राचार एवं संकलित रचनाएं खण्ड-1, (दिल्ली 1984) पृ॰ 103
15. श्री कृष्ण सिन्हा को प्रसाद का पत्र (2 दिसम्बर 1937) वही पृ॰ 131
16. वही
17. प्रसाद का पटेल को पत्र (दिसम्बर 1937), वही, पृ॰ 141
18. पटेल से प्रसाद (28 नवम्बर 1937), आर॰पी॰पी॰ रोल-5
19. हेलेट को लिनलिथगो, (26 दिसम्बर 1987), एल॰पी॰ नं॰ 110
20. लिनलिथगो का हेलेट (11 नवम्बर 1937) वही नं॰ 113
21. लिनलिथगो का हेलेट, (5 दिसम्बर 1937), वही
22. प्रसाद को पटेल (16 दिसम्बर 1937), आर॰पी॰पी॰ रोल-5
23. कांग्रेस सोशलिस्ट (11 दिसम्बर 1937) विस्तार के लिए देखिए कपिल कुमार, कांग्रेस पीजेन्ट रिलेशनशीप, पृ॰ 242
24. प्रसाद को सी॰पी॰ सिंह (1 जून 1938) आर॰पी॰फा॰न॰ 111/1937 एन॰ए॰आई॰ए॰
25. दि हिन्दुस्तान टाईम्स (5 जून 1938)
26. श्री कृष्ण सिन्हा को प्रसाद (22 दिसम्बर 1937)
27. वही
28. सर्चलाइट (5 जनवरी 1938)
29. बिरला को महादेव देसाई (22 दिसम्बर 1937) जी॰डी॰ बिरला में पूर्वोक्त पृ॰ 127
30. लिनलिथगो को हेलेन का पत्र (7 जून 1938) एल॰पी॰ नं॰ 44
31. सहजानन्द और बिहार प्रदेश कांग्रेस समिति के बीच मतभेद के लिए देखिए कपिल कुमार, ''कांग्रेस पीजेंट रिलेशनशिप'' पृ॰ 242-43

❖❖❖

स्मृतियों में विहित विवाह-विधि में नारी

महेन्द्र प्रताप यादव

प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य 'विवाह' से अनभिज्ञ था। कोई पुरुष किसी भी स्त्री से यौन सम्बन्ध बनाने के लिए स्वच्छन्द था। किन्तु धीरे-धीरे जब वह कृषि, पशुपालन और उद्योग से जुड़कर सभ्यता के मार्ग पर अग्रसर होता गया और उसके वैयक्तिक जीवन में स्थिरता आनी शुरू हुई तब उसे पैतृकता का बोध भी होने लगा। उसके मन में यह जिज्ञासा उठने लगी कि उसकी सन्तान कौन है जिसे वह अपना उत्तराधिकारी बना सके। यह बिना यौन सम्बन्धों के नियमन के सम्भव नहीं था। अस्तु उसने लैंगिक सम्बन्धों पर नियन्त्रण करना प्रारम्भ किया। इसके तहत सर्वप्रथम निकट रिश्तों में लैंगिक सम्बन्ध वर्जित किया। धीरे-धीरे यह दायरा बढ़ता गया और अन्ततः वहाँ तक पहुँचा जहाँ एक स्त्री का एक पुरुष के साथ विवाह के उपराँत लैंगिक सम्बन्ध स्थापित करने की मान्यता दी गई। इस प्रक्रिया में एक लम्बा समय लगा। विवाह संस्था इस क्रमिक प्रक्रिया का ही परिणाम है। डॉ० पारस दीवान ने भी इस सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करते हुए कहा है कि जब तक लैंगिक स्वतन्त्रता थी पुरुष के लिए अपनी पैतृकता जानना असम्भव था। अतः लैंगिक सम्बन्धों का विनियमन आवश्यक हो गया। पुरुष और स्त्री के बीच लैंगिक सम्बन्ध अनन्य हो जाने पर ही पितृत्व को जाना जा सकता था। अस्तु विवाह की संस्था का विकास इतिहास पुरुष की उसी इच्छा की पूर्ति के प्रयत्नों का परिणाम है। यह प्रक्रिया निःसन्देह धीमी और लम्बी रही।

वस्तुतः विवाह संस्था का विकास मानव सभ्यता के विकास के साथ क्रमिक रूप से हुआ। शुरू में यह केवल एक सामान्य व्यवहार के रूप में प्रचलित रहा किन्तु आगे चलकर इसने परम्परा एवं रीति-रिवाज का रूप ले लिया और अन्ततः विधि के रूप में सर्वमान्य हुआ। स्मृतिकाल में भी एक संस्कार के रूप में स्वीकार करते हुए शास्त्रकारों ने इसे धर्म (विधि) के दायरे में व्यवस्थित किया। इन्होंने विवाह को स्त्री-पुरुष का वह पवित्रतम गठबन्धन कहा जिसके द्वारा पुरुष तथा स्त्री (दोनों) के इहलौकिक तथा पारलौकिक जीवन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं पवित्रतम भावनाएँ जुड़ी होती हैं। उसकाल में विवाह किसी पुरुष का स्त्री के साथ वह अटूट सम्बन्ध था जिसका उद्देश्य अति आवश्यक सामाजिक तथा धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना था। इसकी प्राचीनता मानव समाज में सभ्यता के उद्भव तक जाती है और सभ्यता के विकास के साथ उसी क्रम एवं गति से यह आगे बढ़ती है। प्रारम्भ में इसका प्रचलन मात्र एक व्यवहार के रूप में रहा किन्तु बाद में इसने परम्परा एवं रीति-रिवाज का रूप धारण कर लिया और जातीय वर्गीकरण के अनुसार अनेक अवस्थाओं से गुजरता हुआ आगे चलकर 'विधि' के रूप में सर्वमान्य हो गया। इस तरह से हिन्दू विवाह एक संस्कार होते हुए भी एक विधिक व्यवस्था वाली संस्था बन गया। धर्म, प्रजा एवं रति आदि की पूर्ति के उद्देश्यों वाली यह संस्था सम्पूर्ण स्मृतिकाल में अपनी महत्ता बनाए रही।

स्मृतिकारों ने विधि के अनुसार सक्षम पक्षकारों के बीच हुए विवाह को ही मान्यता प्रदान की। उनके अनुसार सक्षम पक्षकार वे स्त्री-पुरुष थे जिनका परिणय एक दूसरे से किया जाना विधि सम्मत था। उस काल में पुरुष पक्षकार की असक्षमता या तो उसके लिए पूर्ण रूप से हो सकती थी या मात्र किसी एक विशेष पक्ष (पुरुष या नारी) के साथ ही हो सकती थी। प्रथम श्रेणी में वे आते थे जो किसी कारणवश विवाह के लिए पूर्णतः अयोग्य मान लिए जाते थे। दूसरी श्रेणी में वे आते थे जो किसी एक व्यक्ति विशेष के लिए ही विवाह के अयोग्य माने जाते थे। जैसे एक स्त्री जिसका पति जीवित होता था, किसी व्यक्ति के लिए पूर्णतः अयोग्य थी और दूसरी वह स्त्री जो किसी पुरुष विशेष के ऐसे सम्बन्धों में आती थी जो स्मृतियों के नियम-निर्देशों के तहत विवाह के लिए वर्जित था, तो वह मात्र ऐसे पुरुष विशेष के साथ विवाह के अयोग्य थी। इन निशेधों से मुक्त पुरुष के साथ वह अप्रतिशिद्ध विवाह था। स्मृतिकारों ने विवाह के सक्षम पक्षकारों (स्त्री-पुरुष) के स्मबन्ध में विस्तार से लिखा। कन्या के बारे में मनु ने कहा है कि वह किसी अंग से हीन न हो, सुन्दर

रिसर्च फेलो, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, का.हि.वि.वि., वाराणसी

नाम वाली, तथा हाथी के समान चलने वाली, छोटे दाँत वाली और सुकुमार शरीर वाली हो।[1] याज्ञवल्क्य के अनुसार उस स्त्री से विवाह करना चाहिए जो पहले किसी अन्य पुरुष को प्रदत्त या किसी के द्वारा भुक्त न हो। असपिण्ड हो तथा अपने से छोटी हो। माता के कुल में पाँच पीढ़ी ऊपर से तथा पिता के कुल में सात पीढ़ी ऊपर हो।[2] गौतम तथा वशिष्ठ ने व्यवस्था दी कि ब्रह्मचारी को गुरू की आज्ञा से अपने समान अविवाहित, अपने से छोटी आयु वाली, अन्य प्रवर की, पिता के कुल में सात पीढ़ी तथा माता के कुल में पाँच पीढ़ी के बाद वाली कन्या से विवाह करना चाहिए।[3] लघु आश्वलायन के अनुसार अच्छे कुल में उत्पन्न, सुन्दर मुख वाली, सुन्दर अंगोवाली, मनोहर, सुन्दर नेत्रों वाली, भाग्यशाली कन्या से विवाह करना चाहिए–

कुलजां समुखीं स्वांगी, सुवासां च मनोहराम्।
सुनेत्रां सुभगां कन्यां, निरीक्ष्य वरयेद् बुधः।।
लघु आश्व० 15.2

वर के गुण के सम्बन्ध में आश्वलायन ने कहा है कि बुद्धिमान को ही कन्यादान करना चाहिए।[4] आपस्तम्ब गृह्यसूत्र में अच्छे वर का लक्षण यह बताया गया है– अच्छा कुल, सच्चरित्र, शुभगुण, ज्ञान एवं सुन्दर स्वास्थ्य।[5] यम ने वर का गुण– कुल, शील, वपु (शरीर), यश, विद्या, धन एवं सनायता (सम्बन्धी एवं मित्र लोगों का आलम्बन) आदि बताया है। बृहत्पराशर ने वर के आठ गुण बताए हैं– जाति, विद्या, अवस्था, शक्ति आरोग्य, बहुयक्षता, शील और धन सम्पत्ति।[6] बृहत्पराशर के अनुसार बहुत दूर रहने वाले, बहुत पास रहने वाले, मूर्ख, विरक्त, अति महान, बहुत लाड़ले, दरिद्र, अत्यन्त धनवान, बहुत दुर्बल और जीविकाहीन को कन्या नहीं देनी चाहिए।[7] नारदीय मनु ने पागल, पतित, नपुंसक, कुष्ठरोगी, अन्धे, बहरे, मिर्गी आने वाले पुरुष से विवाह न करने को कहा है–

उन्मत्तः पतितः कुश्ठी, तथा शण्ढः स्वगोत्रजः।
चाक्षुः श्रोत्र विहीनश्च, तथाऽप स्मारदूषितः।।
स्मृति चन्द्रिका, 1 पृ० 59, ना० मनु० 12.37

स्मृतियों में कुछ विवाहों को प्रतिशिद्ध किया गया है जिसमें सपिण्ड विवाह निषेध मुख्य है। मनु के अनुसार जो कन्या माता की सात पीढ़ी अथवा पिता के गोत्र की हो, वह द्विजातियों के विवाह तथा सन्तानोत्पत्ति के योग्य नहीं होती है।[8] उन्होंने यह भी कहा है कि आपत्ति काल में भी ब्राह्मण एवं क्षत्रिय को शूद्र स्त्री से विवाह नहीं करना चाहिए। क्योंकि शूद्र स्त्री से विवाह करने पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों शूद्रत्व को प्राप्त करते हैं।[9] उनके अनुसार असवर्ण निन्दित विवाहों से, संस्कारों के न होने से, वेद के न पढ़ने से, उच्च कुल भी नींच हो जाते हैं।[10] याज्ञवल्क्य ने निर्देश दिया कि द्विज जातियों को शूद्र से विवाह नहीं करना चाहिए। क्योंकि उससे उत्पन्न पुत्र शूद्र होता है।[11] शास्त्रकारों ने ऐसे दोषों को भी गिनाया है, जिनसे ग्रसित कन्या से विवाह नहीं करना चाहिए। मनु ने निम्नलिखित दस दोषों से युक्त कुल में विवाह न करने का निर्देश दिया है– क्रियाहीन, जिस कुल में कन्या ही उत्पन्न होती हो, वेद के पठन–पाठन से हीन, अधिक रोयें वाली, बवासीर वाली, राजयक्ष्मा वाली, मन्दाग्नि वाली, मृगी, श्वेत कुष्ठ वाली और गलित कुष्ठ वाली आदि।[12] उनके अनुसार भूरे बालों, अधिक अंगों (छः अंगुलियों वाली), रोगिणी, रोम रहित अधिक रोम वाली, बहुत बोलने वाली, भूरी आँखों वाली तथा नक्षत्र, पेड़, नदी, म्लेच्छ, पहाड़, पक्षी, सर्प, दासी या भयानक नाम वाली कन्या से विवाह नहीं करना चाहिए।[13] बहुत मोटी, बहुत दुबली–पतली, बहुत लम्बी, बहुत छोटी (नाटी), अवस्था या आयु में अधिक, किसी अंग से हीन, झगड़ा करने वाली कन्या से भी उन्होंने विवाह न करने को कहा है–

नाति स्थूलां नाति कृशां, न दीर्घां नाति वामनाम्।
वयोऽधिकां नांगहीनां, न सेवेत कलह प्रियाम्।।
मनु० 3.9 के बाद परिशिष्ट

नारदीय मनु के अनुसार लम्बी बीमारी वाली, चरित्रहीन, ढीठ, और अन्य से प्रेम करने वाली कन्या दूषित होती है। उससे विवाह न करें–

दीर्घकुत्सित रोगार्ता व्यंगा
संस्पृष्टमैथुनाः।
धृष्टान्यगत भावाश्च, कन्यादोशाः
प्रकीर्तिताः।। ना० मनु० 12.36

वर एवं कन्या की आयु का निर्धारण करते हुए मनु ने कहा है कि श्रेष्ठ, सुन्दर और योग्य वर मिलने पर कन्या की अवस्था कम होते हुए भी उसका विधिपूर्वक विवाह कर देना चाहिए। उन्होंने यह भी कहा है कि कन्या ऋतुमती होने पर तीन वर्ष तक विवाह की प्रतीक्षा करे। यदि पिता आदि विवाह न करें तो उसके बाद समान योग्यता वाले वर से वह स्वयं विवाह कर ले।[14] उन्होंने आपातकाल में 30 वर्ष के पुरुष का 12 वर्ष की कन्या से तथा 24 वर्ष के पुरुष का आठ वर्ष की कन्या से विवाह का प्रावधान किया–

त्रिषद्वर्षोद्वहेत कन्यां, हृद्यां द्वादश
वार्षिकीम्।
त्रयष्टवर्षोऽष्टवर्षो वा, धर्मे सीदति
सत्वरः।। मनु० 9.94

बौधायन ने यह कहा है कि यदि अविवाहित रजस्वला कन्या पिता के घर में रहती है तो पिता या अभिभावक कन्या के प्रत्येक मासिक धर्म पर गर्भ गिराने के पाप के भागी होते हैं।[15] गौतम के अनुसार यदि तीन बार रजस्वला होने पर भी उसका विवाह कोई नहीं करता है तो अपना आभूषण एवं अलंकरण घर में ही छोड़कर वह सत्पात्र पति से स्वयं अपना विवाह कर सकती है।[16] पराशर ने 8 वर्ष की लड़की को गौरी, 9 वर्ष की रोहिणी, 10 वर्ष की कन्या, 10 वर्ष से ऊपर को रजस्वला नाम से सम्बोधित किया है। उन्होंने इन्हीं अवस्थाओं में विवाह करने का विधान किया।[17]

स्मृतियों में आठ प्रकार के विवाहों- ब्रह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गन्धर्व, राक्षस तथा पैशाच आदि की चर्चा की गई है। इनमें से उन्होंने चार को धर्मानुकूल तथा बाद के चार को अधार्मिक माना है। कुछ स्मृतिकारों ने गन्धर्व तथा आसुर को को भी धर्मानुकूल माना है।[18] नारदीय मनु का कहना है कि प्रथम चार विवाह धर्मानुकूल हैं, गन्धर्व साधारण विवाह है, शेष तीन अधर्म विवाह हैं। मनु का कहना है कि ब्रह्म आदि प्रथम चार विवाहों में ब्रह्मतेज वाले और सज्जनपुत्र पैदा होते हैं। ये यशस्वी, पवित्रत्मा, शतायु होते हैं। शेष चार आसुर आदि विवाह से उत्पन्न पुत्र असत्यवादी, नास्तिक और निन्दित कर्मों को करने वाले होते हैं।[19] मनु, शंख, बौधायन, नारदीय मनु, गौतम तथा याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार विद्वान और शीलवान वर को बुलाकर सुन्दर वस्त्र और आभूषणों से अलंकृत करके कन्या को दिया जाने वाला विवाह ब्रह्म विवाह था।[20] इस विवाह से उत्पन्न होने वाले पुत्र 21 पीढ़ियों (अपने से पूर्व 10 तथा आने वाली 10) को पवित्र करता था।[21] जब पिता अलंकृत एवं सुसज्जित कन्या का किसी पुरोहित से यज्ञ के अवसर पर विवाह करा देता है तो वह दैव विवाह कहलाता है।[22] बौधायन ने भी कहा है कि ऋत्विज का यज्ञ के समय यज्ञशाला में कराया गया विवाह दैव विवाह है।[23] याज्ञवल्क्य के अनुसार दैव विवाह से उत्पन्न पुत्र चौदह पीढ़ियों (सात पहले की सात बाद की) को पवित्र करता है।[24] जब गो मिथुन (एक गाय और बैल) या गाय-बैल का एक जोड़ा वर से लेकर विधि पूर्वक कन्या दी जाती थी तो वह आर्श विवाह कहलाता था।[25] मनु के अनुसार इस विवाह से उत्पन्न पुत्र आगे और पीछे की तीन पीढ़ी को पापों से मुक्त करता है।[26] जिस विवाह में वर को यह कहकर वधू दी जाती थी कि तुम दोनों साथ में धर्म करो अर्थात् सह धर्मचारी बनो, वह प्राजापत्य विवाह कहलाता था। इसमें कन्या आभूषण आदि से विभूषित करके वर को दी जाती थी।[27] याज्ञवल्क्य, शंख तथा ब्रह्मोक्त याज्ञवल्क्य के अनुसार जब माँगने वाले वर को कन्या दी जाती है तो वह प्राजापत्य विवाह कहलाता है।[28] इस विवाह से उत्पन्न पुत्र अपने आगे पीछे की छह पीढ़ी के वंशजों को तथा अपने को अर्थात् कुल 13 पीढ़ी को पाप मुक्त करता है।[29] जब लड़की के पिता आदि को तथा कन्या को धन देकर स्वेच्छा से कन्या स्वीकार की जाती थी तो वह आसुर विवाह कहलाता था।[30] शंख, गौतम तथा नारदीय मनु के अनुसार धन देकर किया गया विवाह आसुर विवाह है।[31] मनु के अनुसार इस विवाह वाली कन्या से उत्पन्न पुत्र क्रूर, असत्यवादी एवं यज्ञादि के विरोधी होते हैं।[32] जब वर एवं कन्या प्रेम के वशीभूत होकर मिलते हैं या मैथुन करते हैं तब उसे गन्धर्व विवाह कहा जाता था।[33] मनु के अनुसार इस विवाह से उत्पन्न पुत्र क्रूर, असत्यवादी और धर्मविरोधी होते हैं।[34] मनु के अनुसार जब कन्या के पक्ष वालों को मारपीट कर, अंग छेदन करके, रोती-चिल्लाती कन्या का बल प्रयोग द्वारा हरण करके लाया जाता है तो वह राक्षस विवाह है।[35] नारदीय मनु ने इसे अधर्म विवाह कहा है।[36] मनु के अनुसार इस विवाह से उत्पन्न पुत्र नास्तिक, क्रूर एवं धर्मदोषी होते हैं।[37] मनु के अनुसार सोती हुई, उन्मत्त या मद्यपान से मत्त कन्या के साथ सम्भोग करके विवाह करना पैशाच विवाह है।[38] यह सबसे निकृष्ट कोटि का विवाह था। अन्य धर्मशास्त्रकारों ने भी छलपूर्वक कन्या हरण को पैशाच विवाह बताते हुए उसे अधर्म विवाह कहा है।[39] मनु के अनुसार इस विवाह से उत्पन्न पुत्र क्रूर, असत्यभाषी और अधर्मी होता है।[40]

उक्त प्रकार के विवाहों के माध्यम से स्त्री-पुरुष द्वारा किसी भी स्थिति में बनाये गए सम्पर्क एवं सम्भोगिक सम्बन्ध को विधिक मान्यता देने का कार्य विधिकारों द्वारा किया गया। इनकी उच्चता एवं निम्नता के आधार पर पुत्र की उच्चता एवं निम्नता का निर्धारण होता था। पुत्री के सम्बन्ध में कहीं कुछ भी नहीं कहा गया है। स्त्रियाँ या तो पिता आदि द्वारा धन-सम्पत्ति के साथ वर को सौंपी जाती थीं अथवा पुरुष द्वारा जबरजस्ती उठा ले जायी जाती थीं।

स्मृतियों में विवाह की दो विधियों संविदा की विधि तथा धार्मिक विधि की चर्चा की गई है। संविदा के निम्न

लिखित दो तरीके थे जो विवाह के पूर्व किए जाते थे- प्रथम : वाग्दान अथवा सगायी द्वारा, द्वितीय : स्वीकृति अथवा समझौता द्वारा। वाग्दान कन्या के पिता अथवा अन्य संरक्षकों के द्वारा कन्या को किसी विवाह में किसी वर को प्रदान करने के लिए दिया गया वचन होता था। इसी वचन के आधार पर कन्या उस वर विशेष को विवाह में प्रदान की जाती थी। मनु ने इसकी महत्ता को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि वाग्दान की गई कन्या का वर अगर विवाह के पूर्व ही मर जाय तो उसका विवाह उस वर के छोटे भाई से कर देना चाहिए।[41] नारद ने लिखा है कि पति-पत्नी के विवाह सम्बन्ध के पूर्व वाग्दान होता है और यह वाग्दान तथा वास्तविक विवाह संस्कार दोनों मिलकर ही पति-पत्नी के सम्बन्धों को वैधता प्रदान करते हैं।[42] कुछ शास्त्रकार इस सम्बन्ध में अलग तरह के मत भी प्रस्तुत किए हैं। याज्ञवल्क्य ने लिखा है कि वाग्दान की गई कन्या को रोकने वाला व्यक्ति चोर के दण्ड का भागी होता है, किन्तु अगर कोई योग्य वर मिल जाय तो वह उसके साथ उस कन्या का विवाह कर सकता है।[43] रघुनन्दन का मत है कि किसी स्त्री पर पति का वैधानिक अधिकार वास्तविक विवाह से प्रारम्भ होता है, न कि वाग्दान से।[44] महाभारत में भी उल्लेख मिलता है कि पाणि-ग्रहण तक कन्या की माँग कोई भी भर सकता है।[45] नारद ने भी इसे समर्थन दिया है। इस तरह से यद्यपि पत्नीत्व का पद 'सप्तपदी' के बाद ही प्राप्त होता था, किन्तु वाग्दान का विवाह-विधि में अपना महत्व था।

स्वीकृतिनामा अथवा समझौता का भी अपना महत्व था। वर एवं वधू के बीच कभी-कभी एक समझौता होता था जो विवाह संस्कार जैसा ही महत्व रखता था। इसे तोड़ना (अल्प वयस्क को छोड़कर अन्य लोगों के लिए) अवैध माना जाता था। भारतीय संविदा अधिनियम द्वारा भी इसे सुरक्षा प्रदान की गई है। यह वाग्दान से इस रूप में अलग था कि वाग्दान में केवल कन्या के संरक्षक ही अपनी ओर से किसी कन्या को किसी वर विशेष को विवाह में प्रदान करने का वचन देते थे, जब कि स्वीकृतनामा में दोनों पक्ष एक दूसरे के अतिरिक्त अन्य किसी से भी विवाह न करने की प्रतिज्ञा करते थे। इस तरह से यह वाग्दान से अधिक वैधानिक महत्ता रखता था।[46]

विवाह के समस्त प्रकारों के लिए कुछ न कुछ धार्मिक अनुष्ठान विहित थे। केवल गन्धर्व विवाह ही ऐसा था जिसमें किसी प्रकार का धार्मिक अनुष्ठान नहीं सम्पन्न किया जाता था। यह विवाह की धार्मिक विधि थी। डॉ० पी० वी० काणे ने इस सम्बन्ध में विस्तार से विवरण दिया है। उनके अनुसार विवाह संस्कार की धार्मिक विधियाँ हैं- वधूवर-गुण परीक्षा, वर-प्रेक्षण, वाग्दान या वानिश्चय, मण्डप-करण, नान्दीश्राद्ध एवं पुण्याहवाचन, वधू-गृहागमन, मधुपर्क, स्नापन, परिधापन एवं सन्नहन, समन्जन, प्रतिसरबन्ध, वधूवर-निष्क्रमण, परस्पर समीक्षण, कन्यादान, अग्निस्थापन एवं होम, पाणिग्रहण, लाजहोम, अग्निपरिणयन, अश्मारोहण, सप्तपदी, मूर्धाभिषेक, सूर्योदीक्षण, हृदय-स्पर्श, प्रेक्षकानुमन्त्रण, दक्षिणादान, गृह-प्रवेश, गृहप्रवेशनीय, ध्रुवारुन्धती-दर्शन, आग्नेय स्थालीपाक, त्रिरात्रव्रत, चतुर्थीकर्म, सीमान्त-पूजन, हरगौरी-पूजा, इन्द्राणी-पूजा, तैल-हरिद्रारोपण, आर्द्राक्षतारोपण, मंगलसूत्र-बन्धन, उत्तरीय-प्रान्त-बन्धन, ऐरिणीदान तथा देवकोत्थापन एवं मण्डपोद्वासन आदि। उक्त अनुष्ठानों के सम्पन्न होने के बाद हिन्दू विवाह पूर्ण होता था। इसी ढंग से प्रतिपादित विवाह को ही हिन्दू-विधि मान्यता देती है।[47]

कन्यादान विवाह की धार्मिक विधि का एक महत्वपूर्ण कर्म था। इसके सम्बन्ध में स्मृतियों में विस्तार से विवरण मिलता है। संस्कार कौस्तुभ ने कन्यादान के वाक्य को छः प्रकार से कहने की विधि लिखी है। इस कृत्य में पिता वर को कहता है कि वह धर्म, अर्थ और काम में कन्या के प्रति झूठा न हो और वर उत्तर देता है कि मैं ऐसा ही करुँगा (नातिचरामि)। कन्यादान किस-किस को करना चाहिए, इस सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य ने कहा है कि कन्यादान पिता को करना चाहिए। उसके न रहने पर पितामह, पितामह के अभाव में भाई, भाई के अभाव में कुल के अन्य पुरुष और कुल के अन्य लोगों के अभाव में माता को कन्यादान करना चाहिए।[48] नारदीय मनु के अनुसार पिता, पिता की आज्ञा से भाई, पिता के अभाव में दादा, दादा के अभाव में मामा, उनके न रहने पर कुल का मनुष्य, उनके न रहने पर बान्धव और बान्धव के न रहने पर माता कन्यादान करे। इन सबके अभाव में कन्या स्वयं अपना विवाह कर सकती है।[49] कन्यादान केवल अधिकार मात्र नहीं था, बल्कि एक उत्तरदायित्व था। क्योंकि समय से कन्यादान न करने पर भ्रूण हत्या का पाप लगता था। विधिकारों की कन्यादान सम्बन्धी व्यवस्था से यह स्पष्ट होता है कि इस सम्बन्ध में माता को उतना ऊँचा स्थान नहीं प्राप्त था। ऐसा इसलिए था कि वह स्वयं

आश्रितावस्था में होती थी। इसलिए उसे यह कार्य किसी निकट पुरुष सम्बन्धी से कराना पड़ता था।

लगभग सभी स्मृतिकारों ने सवर्ण स्त्री से विवाह पर बल दिया तथा असवर्ण विवाह प्रतिशिद्ध किया और इसे सदोष विवाह कहा उन्होंने ऐसे विवाह पर दण्ड का भी प्रावधान किया। व्यास के अनुसार पवित्र कन्या को त्यागने वाले और निर्दोष कन्या पर दोष लगाने वाले दण्ड के भागी होते हैं।[50] नारदीय मनु के अनुसार यदि दोषी कन्या का दोष छिपाकर विवाह किया जाता है तो वर कन्या को छोड़ सकता है। इसी तरह कन्या भी वर का त्याग कर सकती हैं इसमें कोई अपराध नहीं होगा।[51] ऐसी कन्या के पिता को राजा 250 पण का दण्ड दे।[52] इस सम्बन्ध में मनु का कहना है कि मूल्य लेकर कन्या बेचने वाला मनुष्य यदि वर को अच्छी कन्या दिखाकर निकृष्ट कन्या देता है तो उसी मूल्य में दोनों कन्याओं का विवाह कर सकता है। यदि कोई पागल, कुष्ठरोग वाली और क्षतियोनि कन्या का विवाह करता है तो वह दण्ड का भागी होता है।[53] ऐसी कन्या को पति छोड़ सकता है और ग्रहण करने से मना कर सकता है।[54] याज्ञवल्क्य ने कन्या का दोष छिपाकर कन्यादान करने वाले, निर्दोष कन्या का त्याग करने वाले और कन्या के ऊपर झूठा दोषारोपण करने वाले लोगों से राजा को 100 पण दण्ड लेने का विधान किया।[55] इस तरह से विवाह सम्बन्धी दोष पर स्मृतिकारों द्वारा वृहद विधिक व्यवस्था की गयी जिनमें से बहुत का प्रचलन आज भी है।

इस तरह से वैधानिक ढंग से सम्पन्न हिन्दू विवाह पति-पत्नी को तमाम तरह के अधिकार प्रदान करता था। इनमें उनके सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार भी शामिल थे। विवाह के बाद ही स्त्री-पुरुष विधि द्वारा निर्मित नियमों के तहत सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा अन्य अनेकानेक अधिकारों की माँग करने में सक्षम होते थे। मोटे तौर पर इन्हें चार भागों में विभक्त किया जा सकता है- प्रथम, विवाह के साथी के रूप में प्राप्त होने वाले अधिकार, द्वितीय, व्यक्तिगत हैसियत से प्राप्त होने वाले अधिकार, तृतीय, उनके सम्पत्ति से सम्बन्धित अधिकार तथा चतुर्थ, उनकी सन्तानों से सम्बन्धित अधिकार। हिन्दू विवाह-विधि के तहत विवाह के वैध परिणाम विवाह करने वाले व्यक्ति की इच्छा पर नहीं बल्कि हिन्दू विधि-नियमों के अनुसार प्राप्त होते थे। इसीलिए वे सर्व कल्याणकारी थे।

विवाह के द्वारा पति-पत्नी का एक दूसरे पर पूर्ण आधिपत्य स्थापित हो जाता था। शास्त्रकारों के अनुसार दोनों दो शरीर एक आत्मा का रूप ग्रहण कर लेते थे। इसलिए बिना किसी महत्वपूर्ण कारण के इनमें से किसी के द्वारा भी किया गया विधि विरुद्ध व्यवहार इस लोक के लिए दण्डनीय तथा परलोक के लिए पापमय होता था।[56] पत्नी के यह लिए यह विधान किया गया कि वह अपने पति को देवता माने तथा पति के लिए कहा गया कि उसे चाहिए कि वह अपनी ईमानदार तथा पतिव्रता पत्नी को सम्मान दे।[57] दोनों का यह सम्बन्ध धार्मिक कार्यों के लिए भी आवश्यक था। शास्त्रकारों के द्वारा यह निर्देशित किया गया था कि कोई भी धार्मिक कार्य पति बिना पत्नी के अकेले नहीं कर सकता।[58] पति-पत्नी के इस सम्बन्ध को कानून भी महत्व देता है।

ऐसे विवाह के बाद स्त्री पत्नी के रूप में संयुक्त पैतृक सम्पत्ति में भी अंशहर बन जाती थी। किन्तु उनके अंश के विषय में शास्त्रकारों के अपने अलग-अलग मत हैं। याज्ञवल्क्य ने व्यवस्था दी कि पिता द्वारा अपनी सम्पत्ति के बँटवारे के समय पुत्रों के बराबर हिस्सा अपनी पत्नियों को भी देना चाहिए, अगर वह अपने पति अथवा श्वसुर से कोई स्त्रीधन न प्राप्त की हो। अगर स्त्रीधन प्राप्त की है तो उसे अपने पुत्रों का आधा हिस्सा दिया जाना चाहिए।[59] किन्तु अग्रजाधिकार नियम के तहत किए गए विभाजन में पत्नियाँ (बड़े पुत्र को दिए जाने वाले 1/20वाँ भाग निकालने के बाद) शेष में बराबर का हिस्सेदार बनेंगी। साथ ही उन्हें गृहस्थी के अन्य सामान तथा उनका आभूषण भी प्राप्त होगा।[60] दायभाग के अनुसार पिता सम्पूर्ण सम्पत्ति का स्वामी होता है। किन्तु अगर वह विभाजन करता है तो उसे अपनी पुत्रहीन पत्नियों को पुत्रों के बराबर हिस्सा देना चाहिए अगर स्त्रियों के पास स्त्रीधन न हो तो। स्त्रीधन होने की स्थिति में उन्हें पुत्रों का आधा हिस्सा दिया जाना चाहिए।[61] यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि विभाग की अंशहर पत्नी विभाग की माँग नहीं कर सकती थी। यह व्यवस्था तब के लिए थी जब पति अपनी इच्छा से विभाजन करता था। यह विभाजन भी उसे अलग से नहीं दिया जाता था, अपितु यह उसके पति के पास ही रहता था। पत्नी को विभाजन का अंशहर वस्तुतः उसके निर्वाह की दृष्टि से ही बनाया गया था।[62]

विधिक तरीके से विवाह सम्पन्न वाली पत्नी के परित्याग आदि पर उसे हर्जाना प्राप्त करने का अधिकार शास्त्रकारों ने दिया। दायभाग ने व्यवस्था दी कि यदि

कोई पति अपनी पत्नी का अकारण परित्याग करता है तो वह (पत्नी) उससे (पति से) उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति का 1/3 भाग प्राप्त करने का दावा कर सकती है। किन्तु यदि पति निर्धन है तो उससे सिर्फ गुजारा माँग सकती है। यदि वह नहीं देता है तो उसके विरुद्ध न्यायालय में वाद खड़ा कर सकती है और उसका यह अभियोग उसके अधिवेदन का कारण नहीं बन सकता।[63] किन्तु कुछ इसके अपवाद भी हैं। जैसे यदि पत्नी व्यभिचार की अपराधिनी है, यदि वह बिना कारण के पति गृह छोड़ी है या दोनों आपसी सहमति से पृथक निवास करते हैं, तो पत्नी हर्जाने की माँग नहीं कर सकती है। यहाँ यह स्पष्ट करना उचित होगा कि हिन्दू विवाह-विधि के तहत वही पत्नी हर्जाना प्राप्त करने की हकदार थी जो सच्चरित्र, पतिव्रता एवं कादार थी। ऐसे विाह द्वारा पति-पत्नी एक दूसरे के ऋण अदायगी के लिए उत्तरदायी हो जाते थे। लगभग सभी स्मृतिकारों ने पति-पत्नी को एक दूसरे द्वारा लिए गए ऋण की अदायगी के लिए उत्तरदायी बताया, यदि वह ऋण परिवार के हित के लिए लिया गया है। सामान्यतया ऐसा वहीं था जहाँ पति की आजीविका मृख्य रूप से पत्नी के श्रम पर निर्भर करती थी।

स्मृतिकारों ने शास्त्रानुमोदित ढंग से विवाहित पत्नी के पुत्र को ही वैध तथा अन्य सभी प्रकार के पुरुषों से श्रेष्ठ माना है। मनु ने लिखा है विवाह संस्कार द्वारा व्याहता पत्नी से उत्पन्न पुत्र 'औरस' कहलाता है जो अन्य प्रकार के पुत्रों से श्रेष्ठ होता है।[64] बौधायन के अनुसार वह पुत्र जो किसी पुरुष द्वारा स्वयं विधि-सम्मत ढंग से विवाहित अपने ही वर्ग की पत्नी द्वारा उत्पन्न किया जाता है, उस व्यक्ति का अपने शरीर से उत्पन्न (औरस) वैध पुत्र कहलाता है। कुछ शास्त्रकारों ने अनुलोम विवाह से उत्पन्न पुत्र को भी वैध माना है।

हिन्दू-विधि में प्रत्येक पिता का अनिवार्य कर्तव्य अपनी वैध सन्तानों का भरण-पोषण बताया गया है। मनु, याज्ञवल्क्य, जीमूतवाहन, नीलकण्ठ, विज्ञानेश्वर आदि सभी ने यही कहा है।[65] प्रिवी कौंसिल ने भी अपने निर्णय में इसे मान्यता दी है।[66] कुछ शास्त्रकारों ने अवैध सन्तानों के भरण-पोषण का भी विधान पिता की सम्पत्ति से किया। जीवित रहते पिता भरण-पोषण का कार्य स्वयं करता था। उसकी मृत्यु के बाद उसकी सम्पत्ति से उनका पालन-पोषण किया जाता था। किन्तु यह भी भरण-पोषण उनके प्रौढ़ होने तक ही उन्हें प्राप्त होता था।

इस सम्बन्ध में दायभाग तथा मिताक्षरा की अलग-अलग व्यवस्थाएँ हैं। दायभाग सन्तानों के असहाय या अवयस्क होने तक ही यह सुविधा प्राप्त करने की व्यवस्था करता है। किन्तु मिताक्षरा के अनुसार संयुक्त परिवार के अन्तर्गत पुत्र पिता के साथ ही संयुक्त सम्पत्ति में अंशहर होता है। अतः वह जब चाहे सम्पत्ति के विभाजन के लिए दावा प्रस्तुत कर सकता है। विशेष्य यह है कि विभाजित न की जा सकने वाली सम्पत्ति में ही वह भरण-पोषण प्राप्त करने का हक रखता था। प्रौढ़ हो जाने के बाद भी उसका यही हक कायम रहता था।

हिन्दू विवाह का परिणाम पति-पत्नी की वैयक्तिक स्थिति पर भी प्रभावी रूप से पड़ता था। विवाह के बाद ही व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था तथा वह अपने भौतिक एवं आधयात्मिक उन्नति का स्वयं नियामक बनता था। विवाह के बाद पुरुष का पक्ष स्त्री की अपेक्षा काफी सबल हो जाता था। क्योंकि जहाँ हिन्दू नारी पति के जीते जी क्या उसकी मृत्यु के बाद भी दूसरा विवाह नहीं कर सकती थी, वहीं हिन्दू पुरुष इसके लिए पूर्णतः अधिकृत था। हालाँकि बिना पर्याप्त कारण के वह यदि दूसरा विवाह करता था तो वह अधिवेदन विवाह कहलाता था और अधिवेदन की स्थिति में पत्नी हर्जाना प्राप्त करने की अधिकारी होती थी जिसे अधिवेदनिक कहा जाता था और जो स्त्रीधन का एक प्रकार होता था।

यद्यपि हिन्दू विवाह-विधि के तहत सम्पत्ति पर स्त्री के अधिकार को लेकर शास्त्रकारों में काफी मतभेद रहा है, किन्तु विवाह के बाद कई तरह की सम्पत्ति की उत्तराधिकारी वह बन जाती थी। आपस्तम्ब ने हिन्दू विवाह के औचित्य को ध्यान में रखते हुए यह व्यवस्था दी कि पत्नी और उसके स्वामी (पति) के बीच विभाजन का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। विवाह में पत्नी का हाँथ अपने हाँथ में ले लेने के बाद से हर बुरे-भले कार्यों में उसका सहयोग आवश्यक होता था। उसका धन पत्नी का धन होता था। उसकी अनुपस्थिति में यदि पत्नी औचित्यपूर्ण ढंग से कोई भेंट अथवा उपहार देती है तो शास्त्रों ने उसे चोरी नहीं माना है।[67] जमना बनाम माचल शाही के प्रसिद्ध वाद में इलाहाबाद उच्च न्यायालय का निर्णय था कि हिन्दू-विधि के अन्तर्गत पत्नी पति की सहयोगिनी के रूप में उसकी सम्पत्ति में सहभागिनी भी होती है।[68] किन्तु पूर्णा बनाम राधा के वाद में कलकत्ता उच्च न्यायालय ने अपने निर्णय में कहा कि सहयोगिनी की हैसियत से पत्नी पति की सम्पत्ति के विभाजन की माँग नहीं कर सकती।[69]

यानि पत्नी का पति की सम्पत्ति में सहस्वामित्व औपचारिक था। उसका वास्तविक स्वमित्व उसके स्त्रीधन पर ही होता था।

स्मृतिकारों ने विवाह-विच्छेद की सामान्य रूप में कोई व्यवस्था नहीं किया क्योंकि उनके अनुसार यह संविदा न होकर एक संस्कार था जिसे धर्म (विधि) का स्वरूप प्रदान किया गया था। मनु के अनुसार न तो विक्रय द्वारा और न ही परित्याग करके हिन्दू पत्नी को उसके पति से अलग किया जा सकता है। पति-पत्नी का वैवाहिक सम्बन्ध उनकी मृत्यु पर्यन्त कायम रहे, इन शब्दों को ही पति-पत्नी के परस्पर सम्बन्धों के लिए सर्वोच्च कानून मानना चाहिए।[70] इसीलिए स्मृतियों में विवाह विच्छेद के सम्बन्ध में कुछ विषेश विवरण नहीं मिलता। शास्त्रकारों ने सप्तपदी के उपरान्त विवाह विच्छेद न होने पर बल दिया। मनु ने कहा कि स्त्री और पुरुश को जीवन पर्यन्त परस्पर अव्याभिचार अर्थात् धर्म, अर्थ, काम विशयों में अलग नहीं होना चाहिए। संक्षेप में यही स्त्री पुरुश का धर्म है-

अन्योन्यस्याव्यभिचारो,
भवेदामरणान्तिकाः।
एशः धर्मः समासेन, ज्ञेयः
स्त्रीपुंसयोऽपरः।। मनु0 9.101

उनके अनुसार जो स्त्री पति और स्वजनों के मना करने पर भी उत्सव आदि में शराब आदि पिये तथा मेले आदि में जाय तो राजा उसे 6 रत्ती सोने का दण्ड दे सकता है। मना करने पर भी यदि पुरुष परस्त्री से बात करता है तो पुरुष को सौ सुवर्ण का दण्ड देना चाहिए।[71] याज्ञवल्क्य तथा व्यास ने कहा है कि यदि पति को महापातक का दोष लग जाय तो स्त्री को उसकी शुद्धि तक प्रतीक्षा करनी चाहिए।[72] इन्होंने पिता या पति द्वारा वर्जित पुरुष से बात करने पर स्त्री के लिए सौ पण तथा वर्जित नारी से बात करने पर पुरुश के लिए दो सौ पण का दण्ड देने के लिए कहा-

स्त्रीनिषेधेषतं दद्याद् द्विषतंतु दमं
पुमान्।। याज्ञ० 2.85

पराशर के अनुसार जो पुरुश दोष रहित एवं बिना पतित हुई भार्या को युवावस्था में छोड़ देता है, वह सात जन्म तक स्त्री होकर पैदा होता है और बार-बार विधवा होता है।[73] व्यास स्मृति में कहा गया है कि अच्छे आचारण वाली स्त्री को त्यागने वाला पुरुष धर्म से पतित होता है।[74] विश्वरूप के अनुसार विवाह एक संस्कार है, पत्नीत्व की स्थिति का उद्भव उसी संस्कार से होता है, यदि पति या पत्नी पतित हो जाय तो संस्कार की परिसमाप्ति नहीं हो जाती, यदि पत्नी व्यभिचारिणी हो जाय तो भी वह पत्नी है और प्रायश्चित्त कर लेने के उपरांत उसे विवाह का संस्कार पुनः नहीं करना पड़ता।[75] वस्तुतः स्मृतियाँ विवाह-विच्छेद की प्रबल विरोधी रहीं। यह एक विडम्बना ही थी कि जहाँ पुरुष को कई पत्नियाँ रखने की छूट थी वहीं पत्नी को पति की मृत्यु पर भी दूसरा पति रखने की मनाही थी। कुछ परवर्ती शास्त्रकारों एवं टीकाकारों ने इस विडम्बनापूर्ण व्यवस्था में सुधार करने का प्रयत्न करते हुए कुछ विशेष परिस्थितियों में पत्नी को दूसरा पति रखने की अनुमति दी। इनमें पराशर, देवल, नारद आदि प्रमुख हैं।[76] नारद का मत है कि नपुंसक, सन्यासी और जातिच्युत पति को पत्नी छोड़ सकती है। किन्तु इनके इस मत का आधार पुत्रोत्पत्ति का धार्मिक पहलू ही अधिक था। ज्यादातर शास्त्रकारों ने इसे हेय कहते हुए इसका निषेध किया। मिताक्षरा का कहना है कि जब तक पति पतित हो, पत्नी उसके नियंत्रण के बाहर रहती है, किन्तु उसे तब तक जोहते रहना चाहिए जब तक कि वह प्रायश्चित्त द्वारा पुनः पवित्र न हो जाय और जाति में न ले लिया जाय। इसके उपरान्त वह पुनः उसके नियंत्रण में ले जी जाती है।[77] बड़े से बड़ा पाप प्रायश्चित्त से कट जाता है। अतः पत्नी अपने पति को सदा के लिए नहीं छोड़ सकती।[78] इससे यह स्पष्ट होता है कि शास्त्रकारों ने किसी भी स्थिति में विवाह विच्छेद की व्यवस्था नहीं किया है। प्रायश्चितों तक पति-पत्नी को दूर रखने की व्यवस्था अवश्य किया। किन्तु उसके बाद दोनों को एक साथ रहने का निर्देष दिया। यहाँ यह चर्चा उपयुक्त होगी कि विवाह-विच्छेद एवं पृथक्करण में अन्तर है। पृथक रहने के लिए चाहे जितने मजबूत एवं स्थायी आधार हों वे विवाह को पूर्ण रूप से कदापि भंग नहीं कर सकते थे, जब तक कि पति-पत्नी दानों हिन्दू धर्म स्वीकार करते थे।[79] विशेष परिस्थितियों में ही पत्नी तथा पति के परित्याग की व्यवस्था को मान्यता मिली थी। उसके पीछे कुछ महत्वपूर्ण आधार निर्धारित किए गए थे। शास्त्रकारों ने ऐसी पत्नी जो विवाह-संस्कार के प्रति अनास्थावान थी को परित्याग योग्य माना। इस सम्बन्ध में मनु ने लिखा है कि शास्त्र वर्जित रक्त सम्बन्धों से सम्बन्ध रखने वाली अथवा समान गोत्र वाली पत्नी का परित्याग इस तथ्य के प्रकट होने के साथ ही कर देना चाहिए तथा पति को इस अनजान में किए गए अपराध के लिए प्रायश्चित्त करना चाहिए।[80]

शास्त्रकारों ने जहाँ पत्नी के परित्याग के सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख किया, वहीं पति के परित्याग पर इनके अलग-अलग मत रहे। मनु आदि ने परित्याग की जगह उसकी उपेक्षा किए जाने की बात कही। मनु के अनुसार पागल, जघन्य अपराधी, नपुंसक, पौरुषहीन तथा दण्डनीय अपराध से सम्बन्धित पति की उपेक्षा की जा सकती है, किन्तु उसका परित्याग नहीं किया जा सकता। अर्थात उसके साथ अपेक्षित लगाव नहीं रखना चाहिए। किन्तु देवल ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि पत्नी अपने ऐसे पति का परित्याग कर सकती है जो कि घोर पापी (अधम) हो, धर्मद्रोही हो, नपुंसक हो, अप्रतिष्ठित हो, क्षय का रोगी हो अथवा दीर्घकाल से विदेश वास कर रहा हो। किन्तु यह परित्याग वह सन्तानोत्पत्ति के लिए ही कर सकती है और यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि इसके लिए वह सामान्य रूप से स्वतंत्र है।[81] यहीं पर पराशर तथा नारद ने ऐसी परिस्थित में पत्नी द्वारा पति के पूर्ण परित्याग की छूट दी है।[82] यहाँ यह ध्यातव्य है कि यह वैवाहिक विधि तभी तक प्रभावकारी होती है, जब तक कि पति-पत्नी दोनों ही हिन्दू बने रहते हैं।

अधिवेदन की व्यवस्था भी स्मृतिकारों द्वारा की गई थी। एक पत्नी के रहते दूसरी पत्नी से विवाह करना अधिवेदन था। इस सम्बन्ध में मनु का विधान है कि उस हिन्दू पत्नी का, जो कि मादक द्रव्यों का सेवन करती है, अनैतिक व्यवहार करती है, अपने पति के प्रति घृणा प्रदर्शित करती है, असाधय रोगिणी है, कटुभाषी है तथा अपने पति की सम्पत्ति का दुरुपयोग करती है, किसी भी समय दूसरी पत्नी द्वारा अधिवेदन किया जा सकता है। बाँझ पत्नी का विवाह 8 वर्ष के पश्चात, जिसके सभी बच्चे पैदा होकर मर जाते हों, उसका 10 वर्ष के बाद, जिसको लगातार 4 लड़कियाँ पैदा हुई हों, उसका 11 वर्ष बाद और जो दुर्भाषी हो उसका अविलम्ब अधिवेदन किया जा सकता है। परन्तु उस पत्नी का जो कि इष्ट (मधुर) और गुणवती हो, रोगग्रस्त होने के बावजूद अधिवेदन नहीं किया जा सकता।[83]

स्मृतिकारों ने विधवा पुनर्विवाह को भी मान्यता प्रदान किया। नारद के अनुसार सात प्रकार की पत्नियाँ होती हैं जो पहले किसी पुरुष से विवाहित हो चुकी रहती हैं। उनमें पुनर्भू के तीन प्रकार होते हैं और स्वैरिणी के चार प्रकार। पुनर्भू के तीन प्रकार हैं- 1. वह कन्या जिस का पाणिग्रहण संस्कार हो चुका हो, किन्तु समागम न हुआ हो। उसका पुनर्विवाह हो सकता है। 2. वह स्त्री जो पहले पति के साथ रहकर उसे छोड़ दे और अन्य से शादी करले, फिर वह लौटकर अपने मौलिक पति के पास चली जाय।[84] 3. पति के मर जाने पर जिसके कोई देवर न हो, ऐसी स्त्री किसी सपिण्ड को या उसी जाति के पुरुष को दे दी जाती है। स्वैरिणी के चार प्रकार हैं- 1. वह स्त्री जो पुत्रहीन हो, या पुत्रवती पति के जीवित रहते ही किसी अन्य पुरुष के पास चली जाय। 2. वह स्त्री जो अपने पति के भाइयों तथा अन्य लोगों को न चाहकर किसी अन्य पुरुष के पास चली जाय। 3. पुनर्भू तीन के तुल्य जो स्त्री हो। 4. धन से खरीदी हुई या भूख-प्यास से पीड़ित स्त्री किसी को अपना पति बनाकर रहती है, वह चतुर्थ प्रकार की स्वैरिणी है।[85] नारद के अनुसार उपर्युक्त दोनों प्रकारों में सभी क्रमानुसार निकृष्ट होते जाते हैं। याज्ञवल्क्य ने पुनर्भू के दो प्रकार बताया है। एक वह जिसका पति से अभी समागम न हुआ हो और दूसरा वह जो समागम कर चुकी हो। इन दोनों का विवाह पुनः होता है। उनके अनुसार स्वैरिणी वह है जो अपने विवाहित पति को छोड़कर किसी अन्य पुरुष के प्रेम में फँसकर उसी के साथ रहती है। द्वितीय पति या द्वितीय विवाह से उत्पन्न पुत्र को 'पौनर्भव' कहा जाता है।[86] काश्यप ने पुनर्भू के सात प्रकार बताया है। ये हैं- 1. वह कन्या जो विवाह के लिए प्रतिश्रुत हो चुकी हो, 2. वह जिसकी कलाई में वर द्वारा कंगन बाँध दिया गया हो, 3. वह जो मन से दी जा चुकी हो, 4. वह जिसका संकल्प के साथ दान हो चुका हो, 5. वह जिसका वर द्वारा पाणिग्रहण हो चुका हो, 6. वह जिसने अग्नि प्रदक्षिण कर ली हो तथा 7. जिसे विवाह के बाद बच्चा हो चुका हो।[87] इनमें ऊपर के पाँच प्रकारों में विवाह का कार्यक्रम सम्पूर्ण रूप में सम्पादित नहीं होता। इसलिए इनका दूसरा विवाह हो सकता है और यह पुनर्भू कहलाएगा। बौधायन ने पुनर्भू के सात प्रकार बताए हैं- 1. वह कन्या जो विवाह के लिए प्रतिश्रुत हो चुकी हो, 2. वह जो मन से दी जा चुकी हो, 3. वह जो अग्नि की प्रदक्षिणा कर चुकी हो, 4. वह जिसने सप्तपदी समाप्त कर ली हो, 5. वह जिसने सम्भोग कर लिया हो, 6. वह जो गर्भवती हो चुकी हो तथा 5. वह जिसे बच्चा उत्पन्न हो गया हो-

वागदत्ता, मनोदत्ता, अग्निं परिगता,
सतमंपदं नीता, भुक्ता, ग्रहीतगर्भा,
प्रसूता चेति सप्तविधा पुनर्भू र्भवति।
अतस्तां ग्रहीत्वा न प्रजां धर्मं च विन्देत।
बौधा०, स्मृति० च० 1 पृ० 75

उनके अनुसार क्लीव, पतित और जातिच्युत पति को छोड़कर अन्य पति के पास जाने वाली स्त्री का पुत्र 'पौनर्भव' होता है।[88] इस सम्बन्ध में वशिष्ठ का मत है कि वाणी और जल से दी गयी कन्या जिसका संस्कार मंत्रों से न हुआ हो और पति मर जाय तो कुमारी कन्या मानी जाती है। मंत्रों के साथ जिस कन्या का संस्कार न हुआ हो और कोई बलपूर्वक ले जाता है तो उस कन्या का विधिपूर्वक संस्कार किया जा सकता है। यदि मंत्रों के साथ किसी कन्या का संस्कार हो जाने के बाद पति मर जाय, यदि कन्या अक्षत योनि हो तो उसका पुनर्विवाह हो सकता है।[89] उन्होंने उस स्त्री के पुत्र को पौनर्भव कहा है जो युवावस्था में अपने पति को छोड़ करके किसी अन्य पुरुष के पास चली जाय और पुनः अपने पति के पास आकर रहने लगे। या जो नपुंसक, जातिच्युत पागल या पति की मृत्यु पर दूसरे पति के पास चली जाय।[90] नारदीय मनु के अनुसार जो पुरुश विवाह करके देशान्तर चला जाता है उसकी भार्या तीन ऋतुकाल के पश्चात् दूसरा विवाह कर सकती है।[91] उनके अनुसार सन्यासी हो जाने पर, पति के नष्ट हो जाने पर (विदेशादि जाने पर उसका कुछ पता न चले), नपुंसक, पतित तथा मर जाने पर इन पाँच विपत्तियों में स्त्रियाँ दूसरा विवाह कर सकती हैं–

पत्यौ प्रव्रजिते नष्टे, क्लीबेऽथ पतिते मृते।
पंचस्वात्सु नारीणां, पतिरन्यो विधीयते।।

ना० मनु० 12.99, परा० 4.30

उन्होंने व्यवस्था दिया है कि पति विदेश गया हो तो ब्राह्मणी को आठ वर्ष तक, यदि बच्चा न हुआ हो तो चार वर्ष तक प्रतीक्षा करके विवाह कर लेना चाहिए। क्षत्रिय की पत्नी को क्रमशः 4 और 3 वर्ष तक तथा वैश्य की पत्नी को 4 और 2 वर्ष तक प्रतीक्षा करके विवाह कर लेनी चाहिए।[92] शातातप की व्यवस्था के अनुसार जिस कन्या का विवाह हो चुकी हो, किन्तु पति से सहवास नहीं हुआ हो, तो वह दूसरा विवाह कर सकती है।[93] मनु ने ज्यादा मुखर रूप में विधवा पुनर्विवाह का विरोध किया है। उनका कहना है कि पर पुरुष से उत्पन्न सन्तान तथा पर स्त्री से उत्पन्न सन्तान शास्त्रोक्त सन्तान नहीं है। पतिव्रता स्त्रियों का दूसरा पति कहीं पर नहीं कहा गया है।[94] कन्या एक बार दी जाती है।[95] विवाह सम्बन्धी किसी भी मंत्र में या किसी भी शाखा में नियोग को उचित नहीं कहा गया है और न विवाह विधि में विधवा को पुनः किसी पुरुष को देने को कहा गया है।[96] विवाह सम्बन्धी मन्त्र कन्याओं के सम्बन्ध में हैं, अकन्याओं (क्षत योनि) के सम्बन्ध में कहीं भी मंत्र नहीं है, क्योंकि वे धर्म कार्य से हीन हो जाती हैं।[97] वस्तुतः शास्त्रकारों द्वारा पुनर्विवाह को अच्छा नहीं माना गया है। विषेश परिस्थितियों में उन्होंने दूसरा विवाह करने की व्यवस्था की है। किन्तु यह पारिवारिक जीवन की समस्याओं के समाधान के लिए ही है।

नियोग की व्यवस्था भी स्मृतियों में प्राप्त होती है। इसका अर्थ था किसी नियुक्त पुरुष के सम्भोग द्वारा पुत्रोत्पत्ति के लिए पत्नी या विधवा की नियुक्ति। गौतम ने कहा कि पति विहीन नारी यदि पुत्र की अभिलाशा रखे तो अपने देवर द्वारा प्राप्त कर सकती है। इसके लिए उसे गुरुजनों से आज्ञा लेकर केवल ऋतु काल में (प्रथम चार दिनों को छोड़कर) सम्भोग कराना चाहिए। अगर देवर न हो तो सपिण्ड, सगोत्र, सप्रवर या अपनी जाति वाले से ही सम्भोग करना चाहिए। दो से अधिक पुत्र नहीं पैदा करना चाहिए।[98] मनु के अनुसार सन्तान न होने पर गुरू की आज्ञा से स्त्री देवर या सपिण्ड के साथ सम्भोग कर सन्तानोत्पत्ति कर सकती है।[99] उनके अनुसार नियुक्त पुरुष को अन्धेरे में ही स्त्री के पास जाना चाहिए। उसके शरीर पर घृत का लेप होना चाहिए और उसे एक या दो पुत्र उत्पन्न करना चाहिए।[100] यही बात बौधायन धर्मसूत्र[101], याज्ञवल्क्य[102] एवं नारद[103] में भी पायी जाती है। नारदीय मनु के अनुसार जो स्त्री बिना बड़ों की आज्ञा से देवर से सन्तान उत्पन्न करती है, वह सन्तान जारज कहलाती है।[104] उसके अनुसार जब किसी की अनुमति से कोई उसके क्षेत्र में बीज बोता है, तब उससे उत्पन्न सन्तान बीज वाले और क्षेत्र वाले दोनों की होती है।[105] वशिष्ठ के अनुसार यदि स्त्री उन्मत्त हो, स्वेच्छाचारिणी हो, रोगी हो, 16 वर्श से कम आयु वाली हो, तो उसका नियोग नहीं करना चाहिए।[106] याज्ञवल्क्य के अनुसार जब तक गर्भाधान नहीं हो जाय, तभी तक उस स्त्री से सम्भोग करना चाहिए। गर्भ रह जाने पर उससे गमन करने से वह पतित हो जाता है और इस प्रकार उत्पन्न पुत्र क्षेत्रज पुत्र कहलाता है।[107]

वस्तुतः धर्मशास्त्रकारों ने नियोग की व्यवस्था तो की, किन्तु नियम भी इतना कठोर बनाया कि उसका दुरुपयोग न हो सके और समाज में शुचिता बनी रहे। नियोग की व्यवस्था प्राचीन धर्मशास्त्रकारों द्वारा की गयी। परवर्ती धर्मशास्त्रकारों ने इसे निन्दित घोशित किया। आपस्तम्ब धर्मसूत्र[108] तथा बौधायन धर्मसूत्र[109] आदि ने इसकी निन्दा की। मनु ने भी नियोग का वर्णन तो किया किन्तु उसके उपरान्त

उसकी भर्त्सना भी किया।[110] साथ ही उन्होंने उत्तराधिकार एवं रिक्थ के विभाजन में क्षेत्रज पुत्र के लिए व्यवस्था किया।[111] नियोग की यह अति प्राचीन प्रथा परवर्ती काल में कम से कमतर होती हुई समृतिकाल के उत्तरीखण्ड में समाप्त हो गयी। नियोग की व्यवस्था के पीछे सबसे महत्वपूर्ण कारण सम्भवत: सम्पत्ति सम्बन्धी उत्तराधिकार की समस्या का समाधान था। दूसरा कारण पुत्र प्राप्ति की कामना थी। एक क्षीण कारण यह भी समझ में आता है कि स्त्री जब कम आयु में विधवा हो जाती थी अथवा जब पति में सम्भोगिक अक्षमता होती थी, ऐसी दषा में उसकी कामुकता को दबाना लगभग न के बराबर होता रहा होगा। उसे बदचलन बनने से रोकने के लिए भी यह एक कारगर उपाय हो सकता था। पुत्र प्राप्ति के बाद वह उसकी सेवा टहल में अपने आपको व्यस्त कर लेती रही होगी। किन्तु कट्टर धर्मशास्त्रकारों द्वारा इसकी निन्दा की गयी और अन्तत: यह बन्द हो गयी।

प्राचीनकाल से ही विवाह के साथ जुड़ी रही दहेजप्रथा स्मृति कालीन में भी चलती रही। किन्तु इस काल में दहेज लेना या देना अच्छा नहीं माना जाता था। लगभग सभी स्मृतिकारों ने इसकी निन्दा किया है और दहेज लेकर सम्पन्न होने वाले विवाहों को नीचे की श्रेणी में रखा है। मनु ने कहा कि वर या कन्या पक्ष की ओर से मूलरूप में कुछ भी लेना अनुचित एवं अपराध है। थोड़ा या ज्यादा लेन-देन विक्रय का भाव प्रकट करता है। कन्या पक्ष से थोड़ा या अधिक लेना पवित्र विवाह-विधि का अपमान है। इससे विवाह की शालीनता पर आँच आती है। इसी प्रकार सुन्दर कन्या को हस्तगत करने के लिए कन्या पक्ष को किसी प्रकार का लालच या धन आदि देना अनुचित कार्य माना गया है। थोड़ा भी धन लेने वाला कन्या का पिता-पुत्री बेचने का अपराधी होता है। अत: नाममात्र का भी धन कन्या का पिता न ले। कन्या पक्ष से वस्त्र, आभूषण, गाणी आदि लेने वाले व्यक्ति पापी होते हैं और अधमगति को प्राप्त करते हैं।[112] ऐसे ही विचार लगभग सभी धर्मशास्त्रकारों के हैं।

इस तरह से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्मृतिकारों द्वारा प्रतिपादित विवाह सम्बन्धी विधि-विधानों के साथ सम्पन्न विवाह एक तरफ धार्मिक कर्मकाण्डों की सम्पन्नता के साथ व्यक्ति के संस्कार में समाहित होकर एक अटूट सम्बन्ध का स्वरूप ग्रहण कर लेते थे तथा दूसरी तरफ विधि-व्यवस्था का अंग बनकर पत्नी तथा पति को तमाम सारे विधिक अधिकार प्रदान करते थे। इन दोनों ही स्थितियों में स्त्री पत्नी तथा अन्य रूपों में अपनी स्थिति को अपेक्षाकृत मजबूत बनाने में सक्षम हो जाती थी। जो स्मृति कालीन विवाह-विधि में नारी की सशक्त विधिक स्थिति को प्रमाणित करता है।

सन्दर्भ :

1. *मनु०*, 3.10(*विष्णु०*, 24.14
2. *याज्ञ०*, 1.53
3. *वशिष्ठ०*, 8.1-2
4. *आश्व०*, 1. 5. 2
5. *आप०*, 3.20
6. *वृ० परा०*, 6.17-21
7. *वृ० परा०*, 6.26-27
8. *मनु०*, 3.5
9. वही, 3.12, 3.43, 3.14-15
10. *वही*, 3.63
11. *याज्ञ०*, 1.56
12. *मनु०*, 3.6-7
13. *वही*, 3.8-9
14. *वही*, 9.88-90
15. *बौधा०*, 4.1.13
16. *गौतम०*, 18.8-9
17. *परा०*, 7.6-9
18. *गौतम०*, 4.4
19. *मनु०*, 3.39-43
20. *मनु०*,3.27; *ब्रह्मोक्तयाज्ञ०*,8.170;*शंख०*,44.4; *बौधा०*,1.11.2; *ना० मनु०*,12.40;गौतम०,4.3; *याज्ञ०*,1.58
21. *याज्ञ०*, 1.58, तज्ज: पुनात्युभयत: पुरुषानेक विंषतिम्।।
22. *याज्ञ०*, 1.59; *शंख०*, 4.4, यज्ञस्य ऋत्विजे दैव:।।

    ना० मनु०, 12.41, अन्तर्वेद्यां तु दैव: स्यदृत्विजे कर्म कुर्वते।।

    मनु० 3.28; *ब्रह्मोक्त याज्ञ०* 8.171; *वशिष्ठ०* 1.31
23. *बौधा०*, 1.11.5, दक्षिणासुनीयमानास्वन्तर्वेद्यशत्विजे स दैव:।।
24. *याज्ञ०*, 1.59, चतुर्दष: प्रथमज:।
25. *मनु०*, 3.29; *गौतम०*, 4.3
26. *मनु०*, 3.38
27. *मनु०*, 3.30; *गौतम०*, 4.3; *ना० मनु०*, 12.40
28. *याज्ञ०*, 1.60; *शंख०*, 4.5; *ब्रह्मोक्त याज्ञ०*, 8.173
29. *मनु०*, 3.38; *याज्ञ०*, 1.60
30. *मनु०*, 3.31; *याज्ञ०*, 1.61; *ब्रह्मोक्त याज्ञ०*, 8.177
31. *गौतम०*, 4.3; *शंख०*, 4.5; *ना० मनु०*, 12.42
32. *मनु०*, 3.41
33. *मनु०*, 3.32; *याज्ञ०* 1.61; *गौतम०* 4.3; *शंख०* 4.5; *ना० मनु०*, 12.42; *ब्रह्मोक्त याज्ञ०* 8.175
34. *मनु०*, 3.41
35. *वही*, 3.33
36. ना० मनु०, 21.44
37. मनु०, 3.41
38. वही, 3.34
39. *याज्ञ०* 1.61; *शंख०* 4.6, *गौतम०* 4.3; *ना० मनु०* 12.43-44
40. *मनु०* 3.41

41. *वही,* 9.69,71; 5.152
42. *नारद०,* 12.2
43. *याज्ञ०,* 1.65
44. इन्स्टी०, भाग-2, पृ० 72
45. महाभारत अनु०, 44.35
46. देखें, *डॉ० अच्छेलाल यादव*, प्राचीन हिन्दू विधि, पृ० 38-41
47. *पी० वी० काणे,* धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-1 पृ० 303-306
48. *याज्ञ०* 1.63
49. *ना० मनु०* 12.20-21
50. *व्यास०,* 2-9
51. *ना० मनु०,* 12.31-33
52. *वही,* 12.33-34
53. *मनु०,* 8.204-205
54. *वही,* 8.224-225, 9.72-73
55. *याज्ञ०,* 1.66
56. कोलब्रुक्स डाइजेस्ट, बु० 4, पृ० 57, 61, 63, 72
57. *मनु०*, 3.55
58. *वही*, 9.46
59. *याज्ञ०*, 3.15; *मिताक्षरा*, 1.2.8-10
60. *याज्ञ०* 1.2-4
61. दायभाग, 3.2.31-32
62. देखें, *डॉ० अच्छेलाल यादव*, प्राचीन हिन्दू विधि, पृ० 49
63. दायभाग, 2.2.3; 4.1.25
64. *मिताक्षरा*,1.11.2; व्यवहारमयूख, 4.4.41
65. *मनु०,* 9.108; 11.9.10; दायभाग, 9.28; व्यवहार मयूख, 5.4.30; मिता०, 10.12.30
66. देखें, कुमार नेत्तप नैकर बनाम बेंकटेश्वर पेत्तिया, 5, मद्रास 405
67. कोलब्रुक्स डाइजेस्ट, बुक 5, पृ० 89; देखें, *डॉ० अच्छेलाल यादव,* प्राचीन हिन्दू विधि, पृ० 48
68. आई० एल० आर० 2, इला० 315; देखें, डॉ० अच्छेलाल यादव, *प्राचीन हिन्दू विधि,* पृ० 48
69. आई० एल० आर० 31, कलकत्ता, 476
70. *मनु०*, 9.101
71. *वही*, 9.84, 8.36
72. *याज्ञ०*, 1.77; आशुद्धेः संप्रतीक्ष्यो हि, महापातक दषितः।। *व्यास०* 2.48
73. *पराशर०,* 4.16
74. *व्यास०,* 2.47, सदवश्त्ताचारणीं पत्नीं त्यक्त्वा पति धर्मतः।।
75. *विश्वरूप*, *याज्ञ०*, 3.253-254
76. *नारद०,* 12.17.101; कोलब्रुक्स डाइजेस्ट, बुक 4, पृ० 151-153
77. *मिताक्षरा*, *याज्ञ०*, 1.77
78. *मनु०,* 10.89, 92, 101, 105, 106
79. उम्मेद कीका बनाम नगीनदास नरोत्तम दास, 7, बम्बई, ओ० सी० जे० 122
80. *मनु०,* 9.80-82; देखें, *डॉ० अच्छेलाल यादव*, प्राचीन हिन्दू विधि, पृ० 58
81. कोलब्रुक्स डाइजेस्ट, बुक 4, पृ० 151-152
82. *नारद०,* 12.97-100
83. *मनु०*,3.5एवं 11 पर कुल्लूकभट की टीका; देखें, *डॉ० अच्छेलाल यादव*, प्राचीन हिन्दू विधि पृ० 58
84. *ना० मनु०,* 12.45-47
85. *वही,* 12.48-52
86. *याज्ञ०,* 1.67, अक्षता याक्षता चैव पुनर्भूः सस्कृताः पुनः।
स्वैरिणी या पतिं हित्वा, सवर्ण कामतःश्रयेत्।।
87. *काश्यप०*, 6-7
88. *बौधा०*, 2.2.31, क्लीवं त्यक्त्वा पतिं वा याऽन्यं पतिं विन्देतस्यां पुनर्भ्वां यो जतः स पौनर्भवः।।
89. *वशिष्ठ०,* 17.64-65; *बौधा०* 4.1.65
90. *वशिष्ठ०,* 17.19-21
91. *ना० मनु०*, 12.24
92. *वही*, 12.100-101
93. *शातातप०*, 44-45
94. *मनु०,* 5.162
95. *वही,* 9.47, सकृत्यप्रदीयते कन्या
96. *वही,* 9.65
97. *वही,* 8.226
98. *गौतम०,* 18.4-14
99. *मनु०,* 9.57-58
100. *मनु०,* 9.59-61
101. *बौ० ध० सू०,* 2.2.68-70
102. *याज्ञ०*, 1.68-69
103. *नारद स्त्री पुंस*, 8.-83
104. *ना० मनु०,* 12.81,84
105. *वही,* 12.58
106. *वशिष्ठ०,* 17.50-51
107. *याज्ञ०,* 1.69
108. *आप० ध० सू०,* 2.10.27.5-7
109. *बौ० ध० सू०,* 2.2.38
110. *मनु०,* 9.64-68
111. *वही,* 9.120, 121, 145
112. *वही,* 3.51-54

❖❖❖

हिन्दी और भारतीय भाषाओं का विकास

डॉ० उपेन्द्र प्रसाद

सितम्बर के महीने में कुछ ऐसी विशेषता है कि वह सरकारी कार्यालयों एवं सार्वजनिक प्रतिष्ठानों में ताजगी पैदा कर देता है। चारो ओर फैला उत्सवी माहौल, उल्लास, सांस्कृतिक कार्यक्रम, प्रश्न मंच, वाद-विवाद प्रतियोगिताएं निबंध लेखन आदि की तैयारी के कारण हवा में रंग सा बिखेर देता है। हिन्दी दिवस 14 सितम्बर को तो मनाया जाता है, सारा पखवाड़ा ही समारोहों से भर जाता है। राजभाषा की महिमा में गोष्ठियां व परिसंवाद होते हैं। हिन्दी की उपयोगिता और महत्ता की चर्चा और प्रशंसा की धूम सी मच जाती है।

पर सच तो यह है कि आज भी वह वर्ग जिसका सांस्कृतिक वर्चस्व है उसके अंग्रेजी प्रेम के कारण नई-नई आशंकाएं और दुर्भावनाएं पनप रही हैं और इसको अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं का एक वर्ग लगातार हवा देता है। हिन्दी के अतिरिक्त दूसरी भारतीय भाषाएं भी इस मानसिकता की शिकार हो रही हैं। समूचे सार्वजनिक जीवन में अंग्रेजी लेखक एवं पत्रकार फतवा देते रहते हैं कि देश की सभी भाषाएं पिछड़ी हुई हैं, उनका शब्द भण्डार अपर्याप्त है, आज की जरूरतों के संदर्भ में उनका साहित्य भी अविकसित है।

इस तरह का दुष्प्रचार वर्षो से होता आ रहा है। और आश्चर्य तो यह है कि यही अंग्रेजी पत्र किसी एक भाषा को बजारू, अपरिपक्क या पिछड़ी कह कर या किसी एक क्षेत्रीय भाषा के साहित्य को सिर-आंखों पर चढ़ाकर भारतीय भाषाओं में भी चेष्टा की जाती हैं। इस तरह की टिप्पणियों से अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में हिन्दी विरोध की भावना फैलाने की चेष्टा की जाती हैं। देश की एकता के लिए खतरे से लेकर, विज्ञान के क्षेत्र ही नहीं, सुशिक्षित हिन्दी भाषी भी अंग्रेजी की जय जयकार करने को तत्पर रहते हैं। ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता यू. आर. अनन्तमूर्ति ने कुछ दिनों पहले कहा था कि भाषा की दरिद्रता की बात हमने अपनी सुविधा के लिए निकाली हैं। मैं मानता हूं कि कोई भी भाषा के प्रयोग से कोई संबंध नहीं होता है? यदि नौकरियों या पदोन्नति के सारे मार्ग या सार्वजनिक जीवन में ऊंचा उठने के लिए हिन्दी या भारतीय भाषाओं की जरूरत नहीं है तो वे कैसे विकसित होंगी?

हिन्दी के प्रति आज जिस प्रकार के दुराग्रह फैले हैं उसका बहुधा सही अनुमान लगाना महानगरों में कार्यरत लोगों को नहीं है पर दूरदराज के गांवों और कस्बों में लोगों की दिनचर्या में यही तीव्रता से महसूस किया जा सकता है। उन विकसित देशों में जहां अंग्रेजी के अलावा दूसरी भाषाएं बोली जाती हैं वहां कोई भी दवा या उपचार की वस्तु का बिकना अवैध है जहां क्षेत्रीय या स्थानीय भाषा भी प्रयुक्त न हो। इसी तरह आधुनिक जीवन की बहुतेरी सुविधाओं का एक सामान्य उपभोक्ता उपयोग आश्वस्त होकर नहीं कर सकता हैं। क्योंकि पैक की हुई चीजों पर लेबल या उसमें प्रयोग विधि के निर्देश अंग्रेजी में होते हैं। बचत के सामान्यार्थक माध्यम चाहे वे म्युचुअल फंड या निवेश अथवा बीमा की कंपनियां हों। उनका साहित्य अधिकतर अंग्रेजी में होता है। हमारी विधि -व्यवस्था भी ऐसी है कि किसी शिकायत या स्थिति से सारक्षण के लिए उसे वही कानून जानना है जो सब अंग्रेजी में छपते हैं। गांव-गांव में टीवी होने के बाद भी कार्यक्रमों के शीर्षक ज्यादातर अंग्रेजी में ही होते हैं। वे कार्यक्रम हिन्दी में ही क्यों न हों।

आज जापान, ताईवान, चीन, दक्षिणी कोरिया, थाईलैण्ड इन सभी ने अपनी भाषा से ही आर्थिक प्रगति की। यूरोपीय महाद्वीप के सबसे बड़े राज्य अंग्रेजी का प्रयोग नहीं करते थे। हमारे शहरों का तो यह हाल है कि आपको जापानी, फ्रैंच और जर्मन सीखने के केन्द्र तो मिल जाएंगे पर भारतीय भाषाओं के अध्ययन की सुविधा कहीं उपलब्ध नहीं होगी। यह केवल भारतीय भाषाओं की खासकर देवनागरी लिपि की विशिष्टता है कि वह जैसी लिखी जाती है वैसा ही उसका उच्चारण होता है। एक ओर जापानी, चीनी और कोरियाई भाषा चित्रात्मक होने पर भी वहां के वासी असुविधाओं के बावजूद उनसे प्यार करते हैं। पर हमारी भाषाओं के वैज्ञानिक विकास के बावजूद भी अंग्रेजी की अपेक्षा उन्हें हेय दृष्टि से देखा जाता है। जो अपनी चीजों पर गर्व नहीं कर सकते वे इस नई शताब्दी में सिर ऊंचा उठाकर चलने का दावा नहीं कर सकते।

व्याख्याता, बी०बी०एन० कॉलेज, औसानी, बगहा, पश्चिम चंपारण

संपन्न लोगों के घरों से और उनकी बातचीत के आधार के रूप में हिन्दी और अन्य भाषाएं धीरे-धीरे निर्वासित हो रही हैं। अंग्रेजी का प्रयोग चाहे वह खिचड़ी के रूप में हो, समाज में धनी लोगों के वर्ग या स्तर से जुड़ चुका है और परोक्ष रूप से यह स्थिति हिन्दी की प्रगति के मार्ग में रोड़ा बन रही हैं। ऐसा लगता है कि जब-जब औपचारिक अवसर आते हैं सबको खुश रखने के लिए सरकारी कार्यालयों में प्रतीकात्मक रूप से हिन्दी को अपनाने का दिखावा किया जाता है। सार्वजनिक समारोहों में राष्ट्रभाषा की अस्मिता, अपनी विशिष्ट पहचान या इसे एकता की जड़ कहना एक बात है इसके प्रति ममत्व दिखाना दूसरी बात है।

धीरे-धीरे पिछले कई वर्षों में हिन्दी की दशकों से प्रकाशित होती हुई प्रतिष्ठित पत्रिकाएं बंद हो गई। एक समय लगभग 40-50 वर्ष पहले हिन्दी में अनुवादों के प्रकाशन का प्रचलन इतना था और शरत चंद्र के उपन्यासों को इतना पढ़ा जाता था कि बहुत से पाठक उन्हें हिन्दी का लेखक मानते थे। आज क्षेत्रीय भाषाओं के अंग्रेजी अनुवादों की दुर्गति तो इतनी है कि वासुदेव नायर जिनको ज्ञानपीठ पुरस्कार मिला था उसकी भी एक वर्ष में कुल मिलाकर 69 प्रतियां ही बिकी। इसी तरह हिन्दी के जो भी चर्चित उपन्यास अंग्रेजी में अनुवादित हुए उनको भी अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं द्वारा अनदेखा करने के कारण कोई महत्व न मिला। सरलता और व्यापकता के बावजूद भी अगले दशक में हिन्दी की क्या स्थिति होगी यह वर्तमान मानसिकता द्वारा ही निश्चित होगी।

इस बात की ओर श्री अनन्तमूर्ति ने कुछ दिनों पहले मुम्बई की एशियाटिक सोसाइटी के हाल में आयोजित साहित्य गोष्ठी में कड़े शब्दों में ध्यान दिलाया था। उन्होंने कहा था कि वर्तमान स्थिति अनुकूल न होने के बावजूद उन्हें विश्वास है कि हिन्दी और भारतीय भाषाएं वैश्वीकरण और अंग्रेजी की चुनौती स्वीकार कर सकती हैं। वे महसूस करते हैं कि भारत में अंग्रेजी लेखन को आवश्यकता से अधिक महत्व इसलिए दिया गया क्योंकि हमारे देश में अंग्रेजी ग्रंथों का एक बहुत बड़ा बाजार कायम हो गया है। क्षेत्रीय भाषाओं की ओर ध्यान नहीं दिया जा रहा उन्होंने यह भी उदाहरण दिया कि ग्रांटा और न्यूयार्कर के कुछ अंकों में जो भारत की स्वतंत्रता के पच्चासवें वर्ष के उपलक्ष्य में और बाद में वर्षों तक निकाले गए थे उनमें भारतीय साहित्य की समीक्षा के नाम पर अंग्रेजी में लिखने वालों को ही महत्व दिया गया था। भारत में विदेशों से आयतित अंग्रेजी पुस्तकों का विपणन रू. 2000 करोड़ का पहुंच गया है। इसलिए भी इंग्लैण्ड और अमेरिका का आर्थिक स्वार्थ भारत में अंग्रेजी के फलने-फूलने से जुड़ा है। यह तथ्य नकारा नहीं जा सकता है।

बड़े-बड़े लक्ष्यों की बातें आज उतनी सार्थक नहीं है जितनी मानसिकता का प्रश्न। जब संविधान सभा ने 14 सितम्बर सन् 1949 में हिन्दी को राजभाषा बनाने का प्रस्ताव बहुत लंबी चर्चा के बाद स्वीकार किया था तब देश की 32 करोड़ जनसंख्या में 14 करोड़ हिन्दी भाषी थे और देवनागरी लिपि को अपनी भाषा में प्रयोग करने वाले तीन करोड़ से अधिक व्यक्ति थे। पर उसका समर्थन लगभग सभी अहिन्दी भाषी नेताओं ने एक स्वर में किया था जैसे एन. गोपाल स्वामी आयंगर, श्यामा प्रसाद मुखर्जी और कन्हैयालाल माणिक लाल मुंशी। प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद को कोसने से नहीं चूकते जिन्होंने उनके अनुसार अपने निर्णायात्मक मत से हिन्दी को राजभाषा बनाया था। यह लांछन सत्य से दूर है और संविधान सभा के दस्तावेजों पर आधारित नहीं है।

शुरू-शुरू में हिन्दी दिवस मनाने की परिकल्पना यह थी कि जिस दिन हिन्दी को केन्द्र सरकार की राजभाषा बनाने का प्रस्ताव स्वीकार किया गया उस दिन की याद को एक अधूरे काम को पूरा करने के संकल्प दिवस के रूप में मनाया जाए। हिन्दी की उत्तरोत्तर प्रगति का ब्योरा लिया जाए और रास्ते में आने वाली बाधाओं से कैसे निपटा जाए। उस समय यह काम स्वयंसेवी संस्थाओं और अहिन्दी भाषी हिन्दी प्रेमियों के माध्यम से मूल रूप से सरकार के भरोसे छोड़ दिए गए हैं। स्वतंत्रता की आधी सदी के बाद भी देश की मुख्य भाषायी भूमिका इन्हीं सब कारणों से अंग्रेजी ने अपने हाथ में ली हुई है। हिन्दी को जो स्थान मिलना चाहिए जिसकी वह अधिकारिणी है तभी संभव है जब यह विषय, राजनैतिक स्वार्थों एवं दबावों से दूर, निष्पक्ष होकर हम सब सोच सकें।

संदर्भ सूची

- दैनिक ट्रिब्यून
- जनसत्ता
- नवभारत टाइम्स जनसत्ता
- इंडिया टुडे
- अच्छी हिन्दी: संभाषण एवं लेखन-तेजपाल चौधरी
- भारत सरकार की राजभाषा नीति-अरविन्द कुलश्रेष्ठ
- आधुनिक संदर्भों के परिपेक्ष्य में हिन्दी भाषा और साहित्य-आनंद मोदक

❖❖❖

धर्मनिरपेक्षतावाद: भारत के संदर्भ में

डॉ० वीरेन्द्र कुमार सिंह

धर्म निरपेक्षतावाद के संस्थापक चार्ल्स साउथवेल, थॉमस कूपर थॉमस पीटरसन और विलियम विल्टन आदि है। जहाँ तक धर्मनिरपेक्षतावाद के नामकरण का सवाल है, यह जी. टी. होलियोक द्वारा किया गया है। जेम्स हेस्टिंग्ज के अनुसार धर्मनिरपेक्षतावाद एक आन्दोलन है जिसका लक्ष्य नैतिक है, निषेधात्मक रूप में जो धार्मिक है और जो राजनीतिक और दार्शनिक विचारधाराओं को हेतु के रूप में स्वीकार करता है। इसकी उत्पति का प्रमुख कारण राजनीतिक और दार्शनिक परिस्थितियाँ थी। धर्मनिरपेक्षता का अर्थ है– गैर आध्यात्मिक या धर्म से स्वतंत्र या लौकिकता या सांसारिकता सम्बन्धी। धर्म से स्वतंत्र चिन्तन का अर्थ न तो धर्म का खण्डन है और न ही धर्म का विरोध या धर्म की उपेक्षा है। धर्मनिरपेक्षतावाद, पारलौकिकतावाद, अतीन्द्रियवाद, आध्यात्मवाद और ईश्वरवाद से स्वतंत्र विचारधारा है तथा जगत और जीवन सम्बन्धी समस्याओं के समाधान के लिए धर्म धर्मशास्त्र या ईश्वर की अपेक्षा नहीं करता है। धर्मनिरपेक्षतावाद का स्रोत सर्वप्रथम राबर्ट ओवेन के सामाजवाद में देखने को मिलता है। यदि धर्मनिरपेक्षतावाद को पारलौकिक सत्ता से निरपेक्ष ज्ञान की स्वायत्तता के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया गया है तथा साथ ही साथ परिभाषित किया जाता है तो इसकी उत्पत्ति पश्चिमी यूरोप में मध्यकाल में हुई होगी। साथ ही मर्टिन लूथर किंग द्वारा चलाया जाने वाला धर्मसुधार आन्दोलन भी धर्मनिरपेक्षता की स्थापना को प्रेरित करने का एक प्रेरक कारक माना जा सकता है। विज्ञान के उत्कर्ष ने भी ध र्मनिरपेक्षतावाद की स्थापना को गति प्रदान किया है। सत्रहवीं शताब्दी में धर्मतन्त्र के पतन के साथ ही धर्मनिरपेक्षतावाद को एक निश्चित और सुदृढ़ आकार प्राप्त हो गया। कालान्तर में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का समर्थन करके बेकन हॉब्स, लॉक, रूसो, डेकार्ट स्पिनोजा, लायबनीज, हयूम, काण्ड, मॉन्टेस्क्यू, मिल, बेंथम, थामस पाइन, एवं रिचर्ड कार्लायल ने ध र्मनिरपेक्षतावाद का जिस समय विकास हो रहा था उस समय धर्म और विज्ञान प्राय: एक-दूसरे का विरोधी माना जाता था। कालान्तर में यह विचारधारा विकसित हुई कि जिस प्रकार गणित, भौतिक शास्त्र और रसायनशास्त्र के सिद्धांत धर्मनिरपेक्ष हो सकते हैं उसी प्रकार आचरण और जीवन-हित सम्बन्धी सिद्धांत का सम्बन्ध न तो ईश्वर वाद से है और न ही अनीश्वरवाद से, क्योंकि ये दोनों सिद्धांत अनुभव के द्वारा सत्यापनीय या मिथ्यापनीय नहीं है। ईसाई मत से अलग हटकर धर्मनिरपेक्षतावाद यह प्रतिपादित करता है कि धर्म निरक्षेप विचार द्वारा नैतिकता की पूर्ण स्थापना की जा सकती है। धर्मनिरपेक्षतावाद, रूढ़िवाद, अन्धविश्वास, धार्मिक कट्टरता, सम्प्रदायवाद और संकीर्णतावाद आदि का परित्याग कर देती है।

भारत को सेक्यूलर गणतंत्र राज्य कहा गया है लेकिन क्या भारत को वास्तविक अर्थ में 'धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र' कहा जा सकता है? यह सत्य है कि भारत का कोई राजकीय धर्म नहीं है तथा यहाँ के संविधान में फिर भी विशेष धर्म को प्रश्रय देने तथा धर्म के आधार पर नागरिकों में भेदभाव करने का पूर्णत: निषेध किया गया है। इस स्थान पर भारत, नेपाल, पाकिस्तान आदि उन राष्ट्रों से निश्चय ही भिन्न है जो किसी विशेष धर्म को राजकीय धर्म के रूप में स्वीकार करते हैं। परन्तु केवल इन्हीं तथ्यों के आधार पर भारत को 'धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र' कहना उचित व युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता है। इसका मुख्य कारण यह है कि राष्ट्र को धर्मनिरपेक्ष बनाने वाली विशेषताओं का भारत में अभाव है। क्योंकि वास्तविक अर्थ में धर्मनिरपेक्षता, कानून, राजनीति, आर्थिक व्यवस्था और सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन धर्म से पूर्णत: स्वतंत्र हैं– अर्थात् ये सब धार्मिक विश्वासों तथा सिद्धांतों द्वारा शासित नहीं की जा सकती है। अत: इस आधार पर भारत को धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र की संज्ञा नहीं दी जा सकती है क्योंकि भारत में आज भी शिक्षा, कानून, राजनीति तथा सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन पर धर्म का पर्याप्त प्रभाव देखने को मिलता है।

भारत के अगर राजनीतिक जीवन पर गौर किया जाए तो यह भी मुख्यत: धर्म द्वारा ही शासित नजर आती है। लगभग सभी राजनीतिक दल चुनाव में मत प्राप्त करने के लिए किसी

M.A., Ist Class Ist, Ph.D, NET (U.G.C.), Deoghar

न किसी रूप में धर्म का सहारा लेते है। चुनाव लड़ने के लिए प्रत्याशियों का निर्णय भी धर्म के आधार पर ही किया जाता है और फिर ये प्रत्याशी मतदाताओं को धर्म के नाम पर मत देने का अनुरोध करते हैं। बहुत से मतदाता भी मत देते समय प्रत्याशियों के धर्म पर ध्यान अवश्य रखते हैं। इस प्रकार संसदीय और विधानसभा चुनाव में धर्म की भूमिका महत्वपूर्ण और निर्णायक होती है। फिर सत्ता प्राप्त करने के पश्चात् अधिकतर मंत्री प्रशासक तथा राजनीतिक, धार्मिक समाराहों में अवश्य भाग लेते हैं। विरोध ी दलों के राजनीतिज्ञों के साथ भी यही बातें लागू होती हैं। हिन्दुस्तान में अनेक ऐसे राजनीतिक दल हैं जिसका निर्माण ही धर्म के आधार पर हुआ है जो धर्म के बिना राजनीति की कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। ऐसे दलों के लिए धर्म तथा राजनीति के बीच परस्पर अनिवार्यत: संबध हैं। वे अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए उपासना स्थलों का खुलकर प्रयोग करते हैं तथा धर्मस्थल इनका अनविार्य साधन बन जाता है। इन तथ्यों के आधार पर यह साबित होता है कि भारतीय राजनीति पर धर्म का व्यापक वर्चस्व है। ऐसी स्थिति में भारत को धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र कहना आत्मप्रवंचना है।

पुन: भारत के संपूर्ण सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन पर भी धर्म का व्यापक एवं गहरा प्रभाव है। यहाँ जन्म से लेकर मृत्यु तक प्रत्येक व्यक्ति का जीवन मुख्यत: धार्मिक संस्कारों, कर्मकाडों तथा विश्वासों द्वारा ही शासित होता है।

भारत में बहुत सी धार्मिक संस्थाएँ हैं जो 'नैतिक शिक्षा' के नाम पर किसी विशेष धर्म के सिद्धांत विश्वासों तथा कर्मकांड की शिक्षा देती है। इतना ही नहीं, भारत सरकार संविधान के अनुसार धार्मिक दृष्टि से अल्पसंख्यक वर्गों द्वारा स्थापित धार्मिक शिक्षा-संस्थाओं को आर्थिक सहायता भी प्रदान करती है। इस सहायता के समर्थन में प्राय: यह तर्क दिया जाता है कि इसके बिना ये धार्मिक शिक्षा-संस्थाएँ अपना कार्य नहीं कर सकती है। समर्थन में दिया गया तर्क उचित हो या अनुचित, लेकिन इतना अवश्य स्पष्ट है कि सरकारी आर्थिक सहायता निश्चय ही धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र की अवधारणा के विरूद्ध है क्योंकि इसका अर्थ यही है कि स्वयं सरकार किसी विशेष धर्मों के अनुयायियों पर उनके परंपरागत धार्मिक कानूनों का भी बहुत गहरा तथा व्यापक प्रभाव है। धार्मिक दृष्टि से अल्पसंख्यक वर्गों के नागरिकों पर विवाह, उत्तराधिकार आदि से संबंधित उनके प्राचीन परंपरागत धार्मिक कानून लागू होते हैं। जीवन के इन महत्वपूर्ण क्षेत्रों को भारत के सभी नागरिकों के लिए एक समान कानून-संहिता का निर्माण नहीं हो सका है। इसका मूल कारण है विशेष धर्मों के अनुयायी द्वारा इसका तीव्र विरोध। परिणामस्वरूप इन क्षेत्रों में विभिन्न नागरिकों के लिए अलग-अलग धार्मिक कानूनों को स्वीकार किया जा रहा है। ऐसी स्थिति में भारत को धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र कहना उचित नहीं है। इसके अतिरिक्त भारत में अनुसूचित जातियों के लिए संविधान द्वारा विशेष आरक्षण की व्यवस्था की गई है जो मूलत: धर्म पर आधारित है। कुछ विशेष धर्म के अनुयायियों को अनुसूचित जातियों के अन्तर्गत मानकर उन्हें आरक्षण दिया जाता है। इतना ही नहीं अल्पसंख्यक द्वारा धार्मिक आधार पर अपने लिए विशेष आरक्षण की मांग की जाने लगी है। ये सभी तथ्य इस बात को स्पष्ट रूप से साबित करते हैं कि वास्तव में भारत धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र नहीं है। मनुष्य जन्म नामकरण शिक्षारंभ, विवाह, मृत्यु आदि जीवन के सभी महत्वपूर्ण अवसरों पर धर्म के प्रभुत्व को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। शैशव-काल से ही प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म के सभी सिद्धांतों तथा विश्वासों में अटूट निष्ठा रखने और उन्हीं के अनुसार आचरण करने की बार-बार निरंतर शिक्षा दी जाती है। यही कारण है कि वयस्क होने पर धर्म उसके जीवन का अभिन्न अंग बन जाता है और वह उसके प्रभाव से मुक्त होने की कभी कल्पना भी नहीं कर सकता है। वह अपने धर्म के समस्त विश्वासों और सिद्धांतों को बिना किसी प्रमाण के अनायास ही सहर्ष स्वीकार कर लेता है। उसके जीवन में धर्म का ठीक वही स्थान बन जाता है जो किसी भी प्राणी के जीवन में ऑक्सीजन या प्राणवायु का होता है। जितने अधिक उपासना स्थल भारत में हैं उतने शायद ही संसार के किसी अन्य देश में होंगे। भारत में शिक्षा संस्थाओं की अपेक्षा उपासना स्थलों की संख्या अधिक हैं जिससे भारत को धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र कहना उचित प्रतीत नहीं होता है।

इसके अतिरिक्त भारतीय संस्कृति और कला पर भी धर्म का पूर्ण प्रभुत्व है। यहाँ की समस्त ललित कलाओं पर धर्म का व्यापक प्रभाव स्पष्ट नजर आता है। भारत के सभी सांस्कृतिक तथा सामाजिक उत्सव मूलत: धार्मिक उत्सव हैं जिनमें भाग लेना मनुष्य का अनिवार्य कर्त्तव्य समझा जाता है। इन तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि यहाँ का संपूर्ण सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन धर्म के नियंत्रण में है जिसके अभाव में वे अपने इस जीवन की कल्पना भी नहीं कर सकते। यही कारण है कि भारत

की शिक्षा, राजनीति और उनके कानूनों पर धर्म का अधिक प्रभाव दिखाई देता है। राष्ट्र समाज का अभिन्न अंग होता है। अत: किसी भी राष्ट्र का स्वरूप अनिवार्यत: उसके समाज के अनुरूप ही होता है। ऐसी स्थिति में जब भारत का संपूर्ण समाज अत्यन्त धर्मपरायण है तो भारत धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र नहीं हो सकता है, ऐसा कहना उसके संपूर्ण धर्मनिष्ठ जन-जीवन की पूर्णत: उपेक्षा करना है।

अंत में कहा जा सकता है कि धर्मनिरपेक्षतावाद एक विशेष प्रकार का मानवतावादी जीवन दर्शन है जो धर्म तथा आध्यात्मक का निषेध करते हुए नैतिकता, शिक्षा, राजनीति, प्रशासन, कानून आदि को इन दोनों से पूर्णत: आत्मनिर्भर बनने की प्रेरणा देकर उसके वैयक्तिक एवं सामाजिक कल्याण के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। भारतीय चिन्तनपद्धति में धर्मनिरपेक्षतावाद को धर्म तथा अध्यात्मवाद के विरूद्ध या इनके प्रति उदासीन न मानकर इन दोनों के अनुरूप माना जाता है। धर्मनिरपेक्षावाद की जो परिभाषा दी गई है वह भारत की प्राचीन धार्मिक परम्परा के अनुरूप ही है। यह वैयक्तिक गुणों को समुदाय के सदस्यों के अधीन मानने के स्थान पर उनमें परस्पर सामंजस्य स्थापित करके धर्मपरायण व्यक्तियों में एकता अथवा सौहार्द्र उन्पन्न करने का प्रयास करता है। धर्मनिरपेक्षवाद का अर्थ आध्यात्मिक मूल्यों की सार्वभौमिकता पर बल देता है जिन्हें विभिन्न उपायों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

इस प्रकार उपर्युक्त सभी तथ्यों के आधार पर तर्कसंगत रूप से यही निष्कर्ष निकलता है कि वास्तव में भारत न तो धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र है और न ही भविष्य में वास्तविक रूप से इसके धर्मनिरपेक्ष होने की संभावना प्रतीत होती है।

❖❖❖

पर्यावरण और प्रदूषण

संतोष राम

भारत में पर्यावरण के रख रखाव की एक लम्बी सामाजिक परंपरा है जिसका प्रमाण असंख्य पक्षियों और बन्दरों के बिना भय के इधर-उधर घूमने तथा पूरे देश में पीपल और वरगद जैसे वृक्षों की मौजूदगी से मिलता है। परम्परागत रूप से प्रशासनिक प्रणाली में पर्यावरण के रख रखाव की जिम्मेदारी नागरिक सुविधाओं हेतु उत्तरदायी अभिकरणों पर थी। पर्यावरणीय प्रभाव के नागरिक निकायों की सीमा से बाहर निकलने तथा प्रदूषण, प्राकृतिक संसाधनों का अति प्रयोग एवं भौतिक व जैविक पर्यावरण के संरक्षण जैसे मुद्दों को संज्ञान में रखते हुए 1972 में केन्द्रीय सरकार ने पर्यावरण नियोजन और समन्वय पर एक राष्ट्रीय समिति (छब्म्च्ब्) का गठन किया। योजना आयोग की एक उच्च शान्ति प्राप्त समिति की सिफारिशों पर 1980 में केन्द्रीय स्तर पर पर्यावरण विभाग की स्थापना की गयी। इस विभाग का उत्तरदायी क्रांतिक परितंत्र प्रणातियों का संरक्षण एवं नियमन, प्रदूषण निगरानी एवं सामुद्रिक परितंत्रों का संरक्षण करना था। विभाग में पर्यावरण संरक्षण एवं पारिस्थितिकी विकास हेतु एक केन्द्रीय अभिकरण के रूप में कार्य किया तथा विकास परियोजनाओं का पर्यावरणीय मूल्यांकन किया। प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में केन्द्रीय गंगा प्राधिकरण स्थापित किया गया। 1985 में पर्यावरण एवं वन मंत्रालय अस्तित्व में आया। कालान्तर में छत्ब्ब् और छस्ब्ब् का गंगा कार्य योजना में विकास हुआ तथा देश में पर्यावरणीय विषयों से जुड़े कई पर्यावरण प्राधिकणों का निर्माण किया गया। एक व्यापक पर्यावरणीय समाशोधन अधिसूचना 1994 को 2006 में पुनर्समीक्षित किया गया।

प्रदूषण: पर्यावरणीय प्रदूषण का सम्बन्ध उन तरीकों से है जिसके द्वारा मानव गतिविधि प्राकृतिक पर्यावरण को हानि पहुँचाती है। प्रदूषण के कुछ प्रकार वास्तविक रूप से भूमि, वायु या जल को दूषित नहीं करते बल्कि वे मनुष्यों तथा अन्य जीवों के जीवन की गुणवता को घटाते हैं। पर्यावरण प्रदूषण सर्वाधिक गंभीर समस्याओं में से एक है जिसका सामना हमारे ग्रह के अन्य जीवों तथा मानव जाति द्वारा किया जा रहा है। अधिक प्रदूषित वायु फसलों को नुकसान पहुँचा सकती है तथा जीवन को खतरा बनाने वाली बीमारियों का कारण बन सकती है। CFC जैसे कुछ वायु प्रदूषण समताप मण्डल की क्षमता को घटाते हैं जिसके कारण सूर्य की हानिकारक पराबैंगनी विकिरण सही ढंग से परिशोधित नहीं हो पाती। इन तथा अन्य वायु प्रदूषकों ने सम्पूर्ण विश्व की जलवायु को परिवर्तित करना आरम्भ कर दिया है। जल और मृदा प्रदूषण किसानों की अधिक खाद्यान्न उगाने की क्षमता को कम करते हैं जिसके कारण विश्व की जनसंख्या के पोषण की समस्या गंभीर हो गयी है। सामुद्रिक प्रदूषण भी कई समुद्री जीवों के लिए खतरा बन गया है।

जल प्रदूषण

जल प्रदूषण (पेयजल विशेषत:) उस समय होता है जब पेयजल या जल में बाहरी तत्व (Foreign Elements) जैसे- भौतिक, केमिकल या जैविक Properties (गुण/धर्म) जो किसी भी विसर्जन, जैसे-तरल, गैसयुक्त, ठोस तत्व जिसके कारण जल हानिकर जन स्वास्थ्य कल्याण या पशुओं या जलीय जीव के जीवन के लिये अनुपयोगी हो जाते है। जल में प्रदूषण जल के उद्गम स्थल से या बीच में (पाइपों में मलजल या नालियों के दूषित जल के रिसाव से) भी हो सकता है। कभी-कभी ऐसा भी पाया गया है कि Overhead tank के ढक्कन खुले रहने के कारण, कोई जीव-जन्तु की लाश सड़ी-गली अवस्था में पड़ने के कारण जल प्रदूषित हो सकते हैं। पर यह अन्य पलैटों के निवासियों को प्रभावित नहीं करता केवल उन्हीं पलैटों के निवासी इस प्रकार के प्रदूषण से प्रभावित होते है, जहाँ इस प्रकार की घटना का सूत्रपात हुआ हो।

जल प्रदूषण के स्त्रोत

इसके लिये एक समेकित ब्योरा नीचे की तालिका में दर्शायी गयी है।

शोध छात्र, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया

तालिका: 1

जल प्रदूषण के विभिन्न स्त्रोत मानवीय क्रिया-कलाप

	नदी से प्रदूषण		समुद्र से प्रदूषण	
(1)	कृषि कार्य	64:	(1) तेल टैन्कर	22:
(2)	खनन्	9 :	(2) नगरपालिका उत्सर्जन	22:
(3)	भू-निष्पादन	9:	(3) टैन्कर दुर्घटना	18:
(4)	वन	6:	(4) नदी बहाव	12:
(5)	अन्य	12:	(5) अन्य	31:

स्त्रोत: विभिन्न स्त्रोतों से संकलित।

उद्योग तथा कृषि क्रिया-कलापों से रसायनिक बहिस्राव (Effuentsssss) नदी तथा समुद्र के जल को समान रूप से प्रभावित करते रहते हैं। कभी-कभी नदियों को वहन क्षमता (Carrying Copacity) के बाहर इस प्रकार के बहिस्राव का नदियों तथा समुद्रों में निपटान किया जाता है। जिसके कारण न केवल मनुष्य मात्र को इसका दण्ड भुगतना पड़ता है, बल्कि जलीय जीव-जन्तुओं पर इसका कुप्रभाव पड़ता है। (चित्र-1) यमुना नदी इन कारणों से ब्मेचववस (मलकुंड) का एक अन्तहीन, न खत्म होने वाला वृतांत बन गई है। इस संदर्भ में राजीव गाँधी द्वारा नदी सफाई परियोजना महत्वपूर्ण एवं सामयिकी थी। अन्ततः इसका निःसारण तो समुद्र में ही होता है। इस कारण समुद्र भी इस कलुष से नहीं बच पाता है। सामुद्रिक जल प्रदूषण में मुख्य भूमिका टैंकर Operation तथा टैंकर दुर्घटनाओं की है, जिसके कारण पक्षियों समेत जलीय जीव प्रभावित होते हैं। मिनमाटा रूग्नता (Minamata Disease, Japan) अन्य देशों में भी। 1956 के दशक में फैली थी। कारण, इसका मूल स्त्रोत प्रदूषित मछलियों का निर्यात था। अनियंत्रित मल-जल तथा अन्य तरल उत्सर्जन जो घरेलू, औद्योगिक, कृषि कार्य, एनिमल हसबैन्ड्री (मुर्गी तथा शूअर पालन) स्त्रोतों से जल प्रदूषण सबसे अधिक रूप से प्रभावित होते हैं। अधिकता से इस्तेमाल किया हुआ उर्वरक, कीटनाशक, खर-पतवार नाशक, कीड़े-मकोड़े नाशक विभिन्न तरह से जल प्रदूषण को बढ़ाते हैं। इसके अतिरिक्त घरेलू मल-जल में अत्यधिक मात्रा में जैविक एवं अजैविक तत्व सम्मिलित होते हैं। औद्योगिक प्रदूषकों में कच्चे मालों के तत्व, माध्यमिक उत्पादन, फाइनल उत्पादन तथा सह-उत्पादन, उप-उत्पादन तथा विभिन्न प्रकार के रसायन, साइनाइड्स, चर्बी, भारी धातु, खनिज, जैविक अम्ल, नाट्रोजनयुक्त तत्व, रंग, फेनोलिक कम्पाउन्ड, चर्म शोध के अवशेष, गंधकीय तत्व तथा अमोनिया पाये जाते हैं। कृषि कार्यों से जो उत्सर्जन मिलते हैं वे भूस्खलन के पदार्थ, पौधे के पोषक तत्व, अजैविक नामक, खनिज, हर्बीसाइड्स तथा संक्रामक के अंश होते हैं।

सामूद्रिक प्रदूषण

सामूद्रिक प्रदूषण विभिन्न प्रकार के उत्सर्जन जिनके निपटान के हेतु समुद्र में प्रवाहित कर दिया जाता है, उनके कारण हुआ करता है। कभी-कभी इसका उद्गम जहाजों द्वारा तेल या तैलीय सम्मिश्रण को समुद्र में छोड़ने के वजह से होता है। इसमें तेलवाहक जहाजों (ज्दामते) की भूमिका अहम है। इस संबंध में थोड़ा संकेत दे देना प्रसंगानुकूल होगा कि The Merchant Shipping Act (XLIV, 1958) के तहत इस प्रकार के सामुद्रिक तैलीय प्रदूषण की समस्या से निपटने के लिये कुछेक दूरगामी प्रावधानों की व्यवस्था है।

नगरीय कुविस्तार तथा सामुद्रिक प्रदूषण

कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि कुछ महानगरों/नगरों का बसाव समुद्र के समीप रहने के कारण और Development Control, विकास नियंत्रण के प्रभावी तथा अर्थपूर्ण ढंग से क्रियान्वयन न होने या शिथिलता के कारण (Urban Sprawl समुद्र तट को छूआ करते हैं। और बहुधा High Flooding Zone से 300-500 मीटर से दूर के Standards का खुलेआम Violation कर, गैर कानूनी निर्माण कार्य शुरू कर दिये जाते हैं और जब यह क्रम एक बार शुरू हो जाता है तो Urban Sprawl के साथ-हीं-साथ महानगरों के अपशिष्टों, परित्यक्तों का निपटान सीधे समुद्र में कर दिया जाता है जिसके कारण सामुद्रिक प्रदूषण के आयामों में एक ओर नया आयाम अक्सर जुट जाया करता है। तो एक और टैंकरों, तेल वाहक जहाजें, मर्चेंट जहाजों का

समुद्र पर कहर तो दूसरी ओर मानवीय क्रिया-कलापों के विचारहीन तथा असंवेदनशील और असंयमित पर्यावरण के प्रति व्यवहार और इसका कुप्रभाव हम-आप, आम आदमियों पर पड़ता है।

जल प्रदूषण एवं स्वास्थ्य अहितता

जल प्रदूषण से विभिन्न प्रकार के स्वास्थ्य संबंधी जोखिम से मानव जीवन के मुठभेड़ों का सामना करना पड़ता है, जिसमें जैविक (Biological), रागनजक (Pathogenic), विषाणुक (Viral), परजीवी (Parasitic), कीटीय (Insecty) आदि सम्मिलित है, जिन्हें दी गई तालिका में दर्शाया गया है।

तालिका: 2--प्रदूषित जल से जुड़ी/सम्बद्ध कुछेक बीमारियाँ

नाम	जीवाणु	बीमारियों के प्रकार
1. जैविक (Biological)	रोगजनक जीवाणु (Pathogenic Bacteria)	हैजा, मियादी बुखार, अतिसार, आमतिसार रक्तातिसार, जठरांत्रशोभ (Gastroenteritis) शिशु दस्त, आदि
2. विषाणुक (Viral) (विशेषत: मल-जल के कारण)	विषाणु (Viruses)	यकृत रोग (Hepatitis) आदि
3. परजीवीय (Parasitic)	(i) परजीवीय (Parastic) (एक कोशिकीय जीव) (ii) कोटाधारित (Insects-based) (मच्छर, ब्लैक पलाई, जे जे पलाई (Black filess Tse- Tse filess)	अमीबीय अतिसार (Amoebic dysentry) मलेरिया, रिवर ब्लाइंडनेस, ईयलों फिवर, स्लींप सिकनेस (Sleeping Slickness)
4. रासायनिक एवं रेडियोधर्मी (chemical and Radioactive)	नाइट्रेट, पलुओराइड, आर्सेनिक मर्करी,लेड-जनित	विभिन्न प्रकार के स्वास्थ्य अहितकर बीमारियाँ

5. इसके अतिरिक्त प्रदूषित सामुद्रिक जल एवं तटों पर स्नान रूग्नताएँ (Bathing diseasesssss) चर्म रोगों (Dermatitis) जो त्वचा जीवाणु (Dermatogen) के कारण, और रोगों सहित होते हैं।

जलीय गुणवत्ता के मानक एवं कसौटियाँ

विश्व स्वास्थ्य संगठन World Heath Organization, WHO पेय जल की गुणवत्ता/शुद्धता के विभिन्न मानक तथा कसौटियाँ निर्धारित किये हैं जिसमें रेडियोधर्मिता के स्तर, विषाक्त तत्वों के सम्मिश्रण, रासायनिक सहित जो तालिका में दर्शाये गये विभिन्न जैविक, जीवाणुक, विषाणुक तथा विभिन्न कीटाधारित परजीवीय तत्वों की उपस्थिति सम्बंधी स्थितियाँ के प्रति सचेत किया है। इस संबंध में Indian standard institution के प्रकाशन को देखा जा सकता है, जो भारतीय स्थिति को ध्यान में रखकर बनाये गये हैं। इसी मानक तथा कसौटी के उल्लंघन के फलस्वरूप पुतेनाहाली क्षील (बंगलौर) में हजारों मछलियों की मौत मल -जल के अनौपचारित (untreated) स्राव से हुई है। तालिका: 2 (स्तम्भ 2) विभिन्न प्रकार के बैक्टिरिया, विषाणु, परजीवीय एक कोशिकीय जीव के साथ-ही-साथ रासायनिक एवं रेडियोधर्मिता के प्रभावयुक्त जल न केवल पीने के अनुपयुक्त होते हैं, बल्कि इनका कूप्रभाव जल-जीवों, पेड़-पौधों वनस्पतियों पर परिलक्षित होते हैं।

मस्कट (ओमान) एक रेगिस्तानी देश है, पेय जल की काफी किल्लत यहाँ हैं प्रदूषित जल को पूरी तरह से साफ कर, कलुष रहित बनाकर पुन: चक्रण के जरिये बाग-बगीचों, राजकीय उद्यानों में इसका प्रयोग होता है। और सामुद्रिक जल को विलवणीकरण (Desalination)तथा अन्य (impurities) कलुषितता को निवरित कर पेय जल के रूप में प्रयोग किया जाता है, मगर यह विलवणीकरण की प्रक्रिया है काफी महंगी। मगर इसे वहाँ करना हीं होता है, कारण उच्च ताप तथा न्यूनतम तथा अविश्वसनीय (unreliable) वर्षा की वजह से केवल 0.1प्रतिशत (कुल क्षेत्रफल 1.5 वर्ग मीटर) भूमि ही खेती लायक है। केवल धोफार (Dhofar) को छोड़कर जो 1200 कि0मी0 दक्षिण मस्कट से (राजधानी) दूर, कुछ ऊँची जगह पर अवस्थित है; यहाँ की भूमि उपजाऊ है, कारण यहाँ जून से सितम्बर तक अच्छी वर्षा होती है और यहाँ वर्षा विश्वसनीय है।

यह बात हुई अमीर, साधन-सम्पन्न देश की (5200 US Dollar प्रति व्यक्ति आय, 1987) जल संबंधी कार्य प्रणाली की। मगर भारत ऐसे देश के लिये अभी इस प्रकार के विलवणीकरण बड़े पैमाने पर की आवश्यक नहीं दिखाई पड़ती, हालाँकि सामुद्रिक तटीय लम्बाई करीब 6000 किमी. है। यहाँ कुछ अलग संकल्पनाएँ हैं जिसके विषय में परिकल्पना सर्वप्रथम के. एल. रॉव, जो उन दिनों भारत सरकार के जलसंसाधन (सिंचाई) के मंत्री थे। सर्वप्रथम उन्होंने यह भाव व्यक्त किया था कि यदि देश की विभिन्न नदियों को जोड़ दिया जाता है, तो इससे अनेक लाभ मिलने की आशा है। उनकी यह संकल्पना निम्नलिखित तथ्यों पर आधारित दिखती प्रतीत होती है:-

(क) इस तरह के नदियों के संयोजन से जल का समुचित उपयोग होने की आशा है। भारत ऐसे विशाल देश में कुछ ऐसे प्रदेश हैं जहाँ जल की विपुलता से लाभ संतप्त है, तो कुछ ऐसे जो जलाभाव की समस्या से सालों -साल जूझते हैं, कहीं अतिवृष्टि, कहीं अनावृष्टि, कहीं नदियों के जल, तो कहीं मीलों-मील उजड़ा-सा बियाबान, सपाट मैदान। कहीं जल की विपुलता से अपार जान-माल की क्षति सालोंसाल, तो कहीं इसकी अभाव से कृषकों में हताशा और आत्महत्याएँ!

(ख) इस तरह की नदी योजक परियोजना से अनेक समस्याओं,जो जलाधारित है, से त्राण पाया जा सकता है।

(ग) जलाधिक्य या जलाभाव दोनों ही स्थितियाँ पर्यावरणीय प्रदूषण के कारक हैं। अत: योजना के द्वारा जल का समुचित वितरण की आशा की जानी चहिए।

नदी परियोजना एवं गंगा ऐक्शन प्लान

यदि एक जलाधिक्य एवं जलाभाव ग्रसित प्रदेशों में वचजपउनउ अनुकूलतम वितरण के द्वारा समेकित तथा संतुलित विकास के द्वार खोल सकते हैं तो दूसरी ओर ''गंगा ऐक्शन प्लान'' के माध्यम से गंगा नदी को प्रदूषण मुक्त कर जलापूर्ति के विकल्प में देखा जा सकता है। यदि के. एल. रॉव नदी योजक योजना के स्वप्नद्रष्टा थे, तो राजीव गाँधी ऐक्शन प्लान के प्रथम प्रेरक पर राजनीतिक इच्छाशक्ति को अमली जामा पहनाने की शुरूआत उत्तर प्रदेश से शुरू हुयी जब त्पअमत स्पदापदह च्तवरमबज उत्तर प्रदेश तथा मध्य प्रदेश की नदी को जोड़ने की प्रक्रिया का शुभारम्भ हुआ। यह भारत में अपने किस्म की पहली परियोजना है।

परियोजना की विशिष्टता

1. दिनांक 26.8.2005
2. परियोजना: एक (डैम) बांध के द्वारा केन के फिजूल जल को (यू0पी0) बेतवा तराई जो जलाभाव (मध्य प्रदेश) से ग्रसित है, क्पअमतज विपथन कर वहाँ पहुँचाया जायगा।
3. समझौता (Agreement) नदी के योजक प्रोग्रम दो राज्यों तथा केन्द्रीय सरकार की संलिप्तता (जल संसाधान मंत्रालय)
4. घटनास्थल (Venue) : उ. प्र. तथा म. प्र.
5. नदियाँ: केन (उ.प्र.) जल वाहुल्य एरिया तथा बेतवा (म. प्र.) जलाभाव ग्रस्त एरिया को प्स्त (Inter Linking River) प्रोग्राम के तहत जोड़ने की परियोजना, योजक नहर की लम्बाई 231 कि0मी0 (दौघान बाँध केन नदी पर)
6. परियोजना लागत: 4,000 करोड़ रूपये
7. हितग्राही (Beneficiary)
   (i) छतरपुर, टिकमगढ़ पन्ना, रायसेन तथा विदिशा जिले (म.प्र.)
   (ii) हम्मीरपुर, बान्दा तथा झाँसी जिले (उ.प्र.)
8. कौन क्या अंश पाता है: वर्तमान आयक-व्यापक ठनकहमज में केवल 6 करोड़ तफसीली परियोजना रिपोर्ट हेतु शुद्ध आवश्यकता 30 करोड़ की तुलना में

संभाव्यताएँ

इस परियोजना की अपार सम्भाव्यताएँ हैं- सिंचाई से लेकर पर्यावरणीय आलिप्तता तक। यह एक अत्यन्त हीं ऐतिहासिक कदम है, जो आगे के लिये भी अर्थपूर्ण प्रेरणास्त्रोत के रूप में देखा जा सकता है।

''गंगा ऐक्शन प्लान'' जल की गुणवता बनाये रखने के लिये एक अत्यन्त हीं महत्वपूर्ण योजना है। गंगा अपने उद्गम् स्थान से निकलकर बंगाल की खाड़ी में गिरने के पूर्व करीब 2500 कि.मी. की दूरी तय करती है। इसके

किनारे अनेक शहरों, नगरों तथा महानगरों की अवस्थित होने के कारण इन सभी मानव बसाव-स्थानों के कूड़ा-कर्कटों, अपशिष्टों घरेलू तथा औद्योगिक, तथा श्मशान घाटों की स्थिति होने के कारण गंगा नदी, अन्य नदियों की तरह, विशेषत: यमुना नदी की तरह, अत्यन्त ही प्रदूषित हो चुकी है। और इन कारणों से एक अत्यन्त हीं पर्यावरणीय जल प्रदूषण की समस्या बनती चली गई। इसकी एक तस्वीर नीचे दी गई तालिका से स्पष्ट होती है।

तालिका : 3

वाराणसी में गंगा नदी के प्रदूषण के कारक

क्र0 सं0	मद कारक	कुल वर्ष में
1. अधजली लाश	मानवीय	3000
2. शव	–	6000
3. मांस के लोथड़े	–	140-200टन
4. राख,ईंधन/लकड़ी	–	925 मिलियन टन/दिन
5. घरेलू मल-जल/औद्योगिक वहिस्राव	–	अप्राप्य

सोत : अग्रवाल, 1982 (1 मिलियन = 10 लाख)

गंगा कार्य योजना के दूसरे चरण में गंगा की सहायक यमुना और गोमती नदियों को प्रदूषण मुक्त करने की योजना को 1993 में केन्द्र सरकार द्वारा मान्यता प्रदान की गयी। गंगा कार्य योजना के प्रथम चरण की संपूर्ण राशि का भुगतान केन्द्र सरकार द्वारा किया गया था जबकि द्वितीय चरण के अन्तर्गत पूँजीगत व्यय को सम्बंधित राज्य सरकारों और केन्द्र सरकार के बीच समान रूप से वितरित करने की व्यवस्था की गई है।

यमुना कार्य योजना:-गंगा कार्य के दूसरे चरण के अंतर्गत 1993 में शुरू की गयी यमुना कार्य योजना का उद्देश्य यमुना नदी के जल की गुणवता में सुधार लाना है जिसके लिए तटवर्ती शहरों से यमुना नदी में गिरनेवाले नगरनिगम के गंदे जल के बहाव को रोकना तथा उसकी दिशा में परिवर्तन करना है इस कार्य योजना के तहत आरंभ में निम्नलिखित 15 नगरों में प्रदूषण निवारण कार्य शुरू किया गया-दिल्ली, उत्तर प्रदेश (8 नगर) सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, गाजियाबाद, नोएडा, वृंदावन मथुरा आगरा, करनाल, पानीपत, सोनीपत, गुड़गाँव और फरीदाबाद बोद में उच्चतम न्यायालय के निर्देश पर हरियाणा के 6 अन्य नगरों को भी इस कार्य योजना शामिल किया गया ये है- पल्लवल, गोहाना, घरौंदा, इन्द्री, रदान्उर और छादशैली। यमुना कार्य योजना के अन्तर्गत रोके गये जल को वर्तमान विसर्जन के अनुसार उपचारित करके अंतिम रूप से सिंचाई हेतु खेतों अथवा नदी में छोड़ा जाता है। इस योजना के तहत कम लागत वाले शौचालयों और बिजली तथा उन्नत लकड़ी पर आधारित शवदाह गृहों के द्वारा अधजले शवों को निपटाने और मिट्टी के नदियों में मिलने जैसे गैर-बिन्दु स्त्रोतों से प्रदूषण निवारण का कार्य किया गया है। इसके अतिरिक्त कहीं जल की गुणवत्ता में स्नान श्रेणी के स्तर तक विकास करके जनता के लिए नदियों तक बेहतर पहुँच उपलब्ध कराने के उद्देश्य से स्नान घाट का निर्माण किया जा रहा है। इस कड़ी के अंतर्गत अप्रैल 2000 में वजीरावाद (दिल्ली) में सूरघाट को आम जनता के स्नान के लिए खोला गया। यमुना कार्य योजना के पूर्ण होने पर इसके पास 130 कि.मी. इंटरसेप्टिंग एवं ट्रंक सीवर, लगभग 760 लाख लीटर प्रतिदिन की सीवेज उपचार क्षमता और कुल 2470 सीटों के साथ 270 सामुदायिक शौचालय परिसर एवं 1500 पानी डालकर साफ होने वाले निजी शौचालय 98 विकसित शवदाह गृह तथा 18 स्नानघाट उपलब्ध होंगे।

संदर्भ

1. Iyer Kv et al: Guidelines standsards on pollution control in industry, New Delhi- 1991
2. Chaudhri J : An introduction to Development & Regional planning
3. UNDP : The Role of PRIS & NGO in Disaster Manogement 2002
4. JTPI: Institute of Town Planners of India Vol 2, No 2, 2005
5. सविन्द्र सिंह : पर्यावरण भूगोल
6. श्री वास्तव एवं राव : पर्यावरण एवं परिस्थैतिकी

❖❖❖

मानव स्वास्थ्य में एनीमिया का महत्व

कुमारी बबीता

हमारे भोजन में कुछ स्वास्थ्यप्रद पदार्थ होते हैं जिन्हें पोषक तत्व कहा जाता है। इनमें से लौह तत्व एक महत्वपूर्ण घटक है। यह लौह तत्व अर्थात् आइरन रक्त निर्माण के लिए अत्यन्त अनिवार्य होता है। लौह तत्व की कमी अर्थात् एनीमिया एक निहित बीमारी का परिणाम या लक्षण है। यह एक ऐसा रोग है जिसका कारण है–शरीर में रक्त बनाने के लिए जिन तत्वों की आवश्यकता होती है, उनकी कमी होना। हमारे शरीर में करोड़ों की संख्या में लाल रक्त कण होते हैं, इन लाल रक्तकणों का काम फेफड़ों से ऑक्सीजन को लेकर हमारे शरीर को पहुंचाना होता है। जिससे यह हमारे पूरे शरीर में फैलकर काम करने की क्षमता प्रदान करता है। इन लाल रक्तकणों में एक रासायनिक पदार्थ पाया जाता है जिसे हीमोग्लोबिन कहते हैं हीमोग्लोबिन दो शब्दों से मिलकर बना है-हीम (अर्थात् लौह तत्व) एवं ग्लोबिन (अर्थात् बढ़ोत्तरी वाला तत्व प्रोटीन)

हीमोग्लोबिन + सांस द्वारा आक्सीजन – काम करने की शक्ति

अर्थात् हमारे शरीर में जितना अधिक हीमोग्लोबिन होगा, उतनी ही अधिक आक्सीजन मांसपेशियों और शरीर के कोने-कोने तक पहुंचेगी तथा उतनी ही अधिक हमारी कार्यक्षमता बढ़ेगी। इसके विपरीत यदि शरीर में हीमोग्लोबिन की मात्रा कम हो जाए तो आवश्यकतानुसार आक्सीजन शरीर के विभिन्न सेलों को नहीं मिलती जिसके कारण हमारी कार्यक्षमता में कमी आ जाती है।

कम हीमाग्लोबिन+सांस द्वारा आक्सीजन–कम हीमोग्लोबिन से कम आक्सीजन

उत्तकों व मांसपेशियों में काम करने की क्षमता में कमी

जब व्यक्ति स्वस्थ होता है तो हीमोग्लोबिन का सामान्य स्तर पुरुषों में प्रति सौ मिलीलीटर रक्त में 13 ग्राम और स्त्रियों में 12 ग्राम माना जाता है। जब यह स्तर कम हो जाता है तो व्यक्ति में खून की कमी हो जाती है। जिस प्रकार वजन, मशीन के द्वारा नापा जाता है उसी प्रकार खून की एक बूंद लेकर उसमें हमोग्लोबिन नापा जाता है। प्रशांत क्षेत्र के देशों में अमीरों और गरीबों के मध्य एक गहरी खाई चिंताजनक रूप से बढ़ रही है। आर्थिक स्तर पर बढ़ता यह अंतर, माताओं एवं बच्चों के लिए घातक हो गया है। यूं तो पिछले चार दशकों में बाल मृत्यु में कमी आई है लेकिन बावजूद इसके भारत अभी भी बाल मृत्युदर कम करने के लिए निर्धारित किए गए विभिन्न सहस्राब्दि स्वास्थ्य लक्ष्यों, एमडीजी-1 (पोषण व आहार के स्तर को सुधारने के लिए तय किया गया लक्ष्य) एमडीजी-5 (माताओं के स्वास्थ्य स्तर को उठाने के लिए निर्धारित लक्ष्य), जोकि विभिन्न देशों द्वारा निर्धारित अवधि के अंदर स्वास्थ्य एवं चिकित्सकीय सुविधा प्राप्त कने से संबंधित लक्ष्य को प्राप्त करने में कई विकसित देशों और यहां तक कि श्रीलंका जैसे विकासशील देश से भी पीछे हैं। यह रिपोर्ट इस तथ्य का भी खुलासा करती है कि विश्व में कुल कम वजन के बच्चों में भारत का प्रतिशत 38 है, विश्व में कुल 42 प्रतिशत भारतीय बच्चे वह हैं जो पैदाइशी तौर पर कम वजन के होते हैं और चिकित्सा विज्ञान के अनुसार कम वजन के नवजात शिशुओं की जीवन प्रत्याशा स्वस्थ शिशुओं के मुकाबले 20 प्रतिशत कम होती है यही कारण है कि भारत में कुल शिशु मृत्युदर में से दो तिहाई शिशुओं की मौत जन्म लेने से 20 दिनों के अंदर हो जाती है। चिकित्सकीय सुविधाओं ने भारत में यद्यपि मृत्युदर को किसी अंश तक घटा दिया है परन्तु गैर संचारी एवं संचारी रोगों तथा पोषाहार की समस्याओं के कारण बीमारियों से ग्रस्त होने वाले बच्चों की संख्या में कोई विशेष कमी नहीं हुई है। उचित पोषण के अलावा 'टीकाकरण' बच्चों के स्वास्थ्य का रक्षक बन सकता है परंतु दुखद पहलू यह है कि यहां भी स्थिति संतोषजनक नहीं कही जा सकती। राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण की रिपोर्ट के मुताबिक बच्चों को टीका लगाने के संबंध में कोई सकारात्मक विकास नजर नहीं आ रहा है। आज भी मात्र 43.5 प्रतिशत

बच्चों (12-23 महीनों) को ही सारे टीके लग पाते हैं। भारत दुनिया के उन चार मुख्य देशों में शामिल है जहां अब भी पोलियो के मरीज पाए जाते हैं। अगर हम आंकड़ों पर नजर डालें तो पाएंगे कि वर्ष 2005-06 में जहां 35 जिलों में पोलियो के 66 मामले थे वहीं 2006-07 में 87 जिलों में 490 मामले प्राप्त हुए हैं। यह सर्वविदित सत्य है कि बच्चों के जीवन और मृत्यु के बीच आज सबसे घातक वार एड्स का है। नवजात बच्चों में एचआईवी संक्रमण बच्चे के जन्म या स्तनपान के समय होता है। भारत में प्रतिवर्ष लगभग 78 लाख 3 हजार गर्भवती महिलाएं एचआईवी संक्रमित होती हैं जिनमें से अनुमानत: 23,490 बच्चे एचआईवी से संक्रमित हो जाते हैं। केंद्र सरकार ने 2011 तक इसमें कमी लाने के लिए कई महत्वपूर्ण कदम उठाए हैं। रिपोर्ट के अनुसार 2011 तक अनुमानित हर वर्ष एचआईवी सवंमित महिलाओं में से 80 प्रतिशत को प्रोफाइलेक्टिक एंटी रिट्रोवायल थैरैपी उपलब्ध कराने का लक्ष्य निर्धारित किया है। माता-पिता से बच्चों में एचआईवी फैलने से रोकने से संबंधी कार्यक्रम (पीपीटीसीटी) को प्रभावी तरीके से लागू किए जाने से विषाणु के संचरण को शून्य प्रतिशत तक लाया जा सकता है। एड्स के अलावा न्यूमोनिया बच्चों के स्वास्थ्य को किस कदर नुकसान पहुंचा रहा है यूनिसेफ और विश्व संगठन की रिपोर्ट 'न्यूमोनिया द फॉरगाटेन किलर ऑफ चिल्ड्रेन' से स्पष्ट हो जाता है। रिपोर्ट में यह बताया गया है कि दुनिया भर में बच्चों की सर्वाधिक मौतें न्यूमोनिया के कारण होती हैं। भारत में प्रतिवर्ष लगभग 4.4 करोड़ न्यूमोनिया के मामले सामने आते हैं। आंकड़े यह भी बताते हैं कि चेचक और मलेरिया से दुनिया में वर्ष 2004 में मरने वाले कुल 4,10,000 शिशुओं में 60 प्रतिशत शिशुओं की मौत भारत में हुई। यूनिसेफ ने 2015 तक शिशु मृत्यु का आंकड़ा 36 प्रति हजार लाने का लक्ष्य रखा है। यह लक्ष्य हासिल करने के लिए इस दर में 7.6 प्रतिशत वार्षिक कमी लाने का लक्ष्य रखा है। यह लक्ष्य हासिल करने के लिए इस दर मे 7.6 प्रतिशत वार्षिक कमी लाने की आवश्यकता है, जबकि वर्तमान में भारत 2.6 प्रतिशत की दर से हासिल कर सका है। भारत में बाल मृत्यु का एक प्रमुख कारण चिकित्सा सेवा में कमी है। ग्रामीण क्षेत्रों में मौजूद ढांचागत आधार के अनुसार कुल 70.2 प्रतिशत विशेषज्ञ डॉक्टरों की कमी है। इसमें 75 प्रतिशत शिशु विशेषज्ञ, 70.9 प्रतिशत सर्जन तथा 60 प्रतिशत महिला रोग विशेषज्ञ की कमी बनी हुई है। इसी संदर्भ में अगस्त '08 को प्रधानमंत्री ने चिकित्सा ढांचे में क्षेत्रीय असंतुलन पर चिंता जताते हुए देशभर में चिकित्सीय सुविधाओं को तुरंत बढ़ाए जाने का आह्वान करते हुए उन्होंने कहा कि डॉक्टरों की कमी और चिकित्सा संस्थानों की मौजूदा संख्या बढ़ती मांग के अनुसार कम है। योजना आयोग की हाल ही की एक रिपोर्ट के अनुसार, देश को अगले पांच वर्षों में लगभग दस लाख नर्सों की आवश्यकता होगी। एनएफएचस-3 के अनुसार क्षेत्र के आधा पर स्वास्थ्य सेवाओं में अंतर पाया जाता है। जहां यह नागालैंड में 12 प्रतिशत है तो वहीं तमिलनाडू में यह 90 प्रतिशत है। इसी विषय को उठाते हुए प्रधानमंत्री ने कहा कि लगभग 60 प्रतिशत चिकित्सा शिक्षण सुविधाएं दक्षिण भारत में हैं जिसके कारण देशभर में चिकित्सा ढांचे और चिकित्सीय सुविधाओं में क्षेत्रीय असंतुलन पैदा हो गया है और इस कमी को दूर करने के लिए स्वास्थ्य मंत्रालय और राज्य सरकारों के सामूहिक प्रयास की जरूरत है। स्वस्थ्य भारत के अधूरे स्वप्न का कारण सिर्फ चिकित्सा सेवा में कमी ही नहीं, बल्कि देश में आर्थिक, जातीय, क्षेत्रीय और शैक्षणिक असमानता व लैंगिक विभेद की संकीर्ण विचारधाराएं भी हैं। भारतीय समाज में व्याप्त लैंगिक भेदभाव और महिलाओं के स्वास्थ्य के प्रति बरती जाने वाली मानसिकता आज भी यथावत विद्यमान है। स्वस्थ स्त्री ही स्वस्थ बच्चे की जननी बन सकती है पर यह दुर्भाग्यपूर्ण तथ्य है कि भारत में हर तीन महिलाओं में से एक का वजन मानक वजन से कम है। कम उम्र में मातृत्व बोझ एवं गर्भावस्था के काल में पोषण एवं उचित आहार को लेकर बरती जाने वाली लापरवाही भी बाल मृत्यु को बढ़ावा देती है।

हीमोग्लोबिन का स्तर

आयु (वर्षों में)	*ग्राम/100 मि.ली.*
0-5	11
6-17	12
गर्भवती महिला	11
महिला	12
पुरुष	13

वैसे तो यह रोग किसी भी आयु समूह में हो सकता है परन्तु महिलाओं और बच्चों में यह अधिक पाया जाता है।

एनीमिया के कारण : एनीमिया के मुख्य कारण इस प्रकार है :-

1. रक्तक्षय- रक्तक्षय कई कारणों से हो सकता है जैसे महिलाओं में मासिक स्राव के समय लौह तत्वों की कमी हो जाती है। इन दिनों में एक दिन में सामान्यतया 5 मि.ग्राम लौह तत्व की कमी होती है जिसकी हमारे शरीर में भोजन के माध्यम से ही पूर्ति होती है। इसी प्रकार गर्भवती महिलाओं को लौह तत्वों की अधिक आवश्यकता होती है क्योंकि उन्हें स्वयं व बच्चे दोनों को जरूरी लौह तत्वों की पूर्ति करनी होती है। जब कोई महिला गर्भधारण करती है तो उसके अंदर पल रहे शिशु का खून मां के खून से ही बनता है। ऐसी अवस्था में सामान्यतया मां के शरीर में हीमोग्लोबिन की मात्रा कम हो जाती है। ऐसे में मां और बच्चे दोनों पर तुरन्त ध्यान न देने पर खतरा हो सकता है। इसी तरह नवजात शिशु प्रारंभिक छह माह तक अपनी आवश्यकता के लिए मां के दूध से लौह तत्व लेता है परंतु दस माह के बाद यदि उसे ऊपरी आहार पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलता है तो वह एनीमिया का शिकार हो जाता है। भारत में 55 प्रतिशत लड़कियां तथा 57 प्रतिशत गर्भवती महिलाएं एनीमिया का शिकार होती हैं। एनीमिया मौत एवं अवरूद्ध शारीरिक विकास का एक प्रमुख कारक है। भारत में 30 प्रतिशत नवजात शिशु एनीमिया के शिकार होते हैं।

इसी प्रकार बच्चों को भी लौह तत्वों की आवश्यकता अधिक होती है क्योंकि उनमें विकास जल्दी होता है। शरीर के बढ़ते आकार के लिए अधिक लौह तत्वों की आवश्यकता होती है जिनकी पूर्ति न होने पर वे एनीमिया के शिकार हो जाते हैं। खून की कमी भूख को प्रभावित करती है। अत: इन बच्चों की धीरे-धीरे भूख कम हो जाती है और कम खाना खाने से उनके विकास पर असर पड़ता है। बार-बार बीमार होने के कारण उनकी कमजोरी बढ़ जाती है और वे अपनी आयु के बच्चों की तुलना में पीछे रह जाते हैं।

2. लाल रक्तकण संबंधी बीमारियां- हमारे शरीर में लाल रक्तकण होते हैं जिनकी आयु 120 दिन/4 माह की होती है। इसके बाद के स्वयं नष्ट होकर फिर से नए लाल रक्तकण बन जाते हैं। इस प्रकार निर्माण और नष्ट होने की क्रिया स्वस्थ शरीर में निरन्तर चलती रहती है। परन्तु कई बार यदि यह संतुलन बिगड़ जाए तो भी एनीमिया हो जाता है। कुछ ऐसी जन्मजात बीमारियां होती हैं जो लाल रक्तकणों पर सीधा प्रहार करती हैं। ये या तो उनका आकार बदल देती है या उनके अन्दर के हीमोग्लोबिन के संगठन में हेर-फेर ला देती है। इस प्रकार की बीमारियों के निदान एवं उपचार में तत्परता बरतनी चाहिए।

3. असंतुलित आहार- भारत में एनीमिया का सबसे बड़ा कारण असंतुलित आहार है। कई बार हम जो भोजन खाते हैं, उनमें अज्ञानतावश उन तत्वों की कमी रह जाती है जिनसे लाल रक्तकण या हीमोग्लोबिन बनता है। जैसे-प्रोटीन, लोहा, विटामिन सी, विटामिन बी-12, विटामिन बी-6, कैल्सियम आदि। प्रोटीन दूध तथा दूध से बनी वस्तुओं, दालों, अनाज, मछली, मांस, आलू, केला, सोयाबीन, फली वाली सब्जियों में विद्यमान रहता है। विकास की अवस्था में प्रोटीन की ज्यादा आवश्यकता होती है। इसी प्रकार से लोहा, कलेजी, हरी पत्तेदार सब्जियों, अंडे, मेवे, केले, फल, मांस, आलू आदि में सामान्य से अधिक मात्रा में मिलता है। इसी प्रकार विटामिन-सी खट्टे पदार्थों जैसे-नींबू, संतरा, आंवला, मौसमी, टमाटर, हरी सब्जियों में ज्यादा मिलता है। इस प्रकार शारीरिक वृद्धि एवं विकास की अवस्था में उपरोक्त सभी तत्वों खाद्य पदार्थों में विद्यमान रहने चाहिए।

4. कृमि की बीमारियां- कई बार हमारे शरीर में खाने-पीने की चीजों के माध्यम से कृमि प्रवेश कर जाते हैं, जिससे हम जो भी भोजन खाते हैं, वे उसका खून नहीं बनने देते। ये आतों पर चिपककर खून पोषण कर देते हैं। 'एन्काईलोस्टोमा' नाम का कृमि 91 दिन में 6/10 मिलीलीटर रक्त चूस जाता है जो कि नंगे पैर चलने के कारण शरीर में प्रवेश कर जाता है। अत: इसके लिए नंगे पांव जमीन पर चलना बंद करना चाहिए। इन कारणों के अतिरिक्त गरीबी, जनसंख्या वृद्धि, बार-बार दवाइयां खाने से भी कई बार एनीमिया हो जाता है।

लक्षण : एनीमिया से ग्रस्त व्यक्ति में भूख की कमी, सांस चढ़ना, हृदय धड़कन में वृद्धि, निस्तेज आंखें, पीला चेहरा, सफेद नाखून तथा हाथों में सूजन प्रमुख लक्षण हो सकते हैं।

एनीमिया को ठीक करने के उपाय: गर्भवती महिलाओं को लौह तत्वों युक्त खाद्यान्नों का सेवन नियमित रूप से करना चाहिए। क्योंकि जब कोई महिला गर्भधारण करती है जो उसके अंदर पल रहे शिशु के खून की पूर्ति भी मां के खून से ही होता है। अत: मां के शरीर में लौह तत्व का एक बड़ा भंडार संग्रहित करना अनिवार्य होता है। इसके लिए महिला को डाक्टर के परामर्श से कम से कम 100 गोलियों का सेवन प्रतिदिन

एक गोली के रूप में अवश्य करना चाहिए। स्तनपान कराने वाली माता को लौह तत्वों की अधिक जरूरत होती है। दूध पिलाने वाली माता को भी लौह तत्वों (प्रोटीन, विटामिन, कैल्शियम आदि) से युक्त भोजन करना चाहिए ताकि उसके दूध के माध्यम से उपयुक्त मात्रा बच्चे को भी पर्याप्त हो सके तथा उसका शारीरिक ढ़ाचा सुदृढ़ हो सके।

खाने के साथ ताजी खटाई जैसे-नींबू, टमाटर, संतरा, आंवले का सेवन करना चाहिए। ऐसा करने से भोजन में जितना भी लौह तत्व हैं, वह पूर्णत: उपयोग हो जाता है। इसी प्रकार हरी मिर्च बेशक खाने में कड़वी लगती है परन्तु कच्ची स्थिति में यह विटामिन-सी का अच्छा स्रोत है। अत: इसे भोजन के साथ में अवश्य ग्रहण करना चाहिए। सब्जी को लोहे की कढ़ाई में पकाना चाहिए। ऐसा करने से कढ़ाई से लौहा निकलकर सब्जी में आ जाता है तथा शरीर इसका उपयोग खून बनाने में कर लेता है। बाल विकास अवस्था में लौह तत्वों का उपयोग सामान्य से अधिक मात्रा में करना चाहिए। भोजन में यदि संभव हो तो गुड़ का भी सेवन करना चाहिए।

जनसंख्या पर नियंत्रण भी करना चाहिए क्योंकि यदि जनसंख्या अधिक होती है तो प्रति व्यक्ति को उचित मात्रा में संतुलित आहार मिलना कठिन होता है। बार-बार गर्भधारण के कारण और आहार में पोषण तत्वों की कमी की दुहरी मार से महिला का स्वास्थ्य जर्जर होता जाएगा। इसके अतिरिक्त दवाओं का अत्यधिक सेवन करने से भी बचना चाहिए। फर्श पर विशेषकर मिट्टीयुक्त जमीन पर नंगे पांव न चलने से तथा सही समय निदान और उपचार से एनीमिया जैसी जानलेवा बीमारियों से बचा जा सकता है।

भारतीय महिलाओं में साक्षरता एवं जागरूकता की कमी है जिसके कारण वे बच्चों की एवं स्वयं की समस्याओं को समझने में असमर्थ होती हैं, मातृ एवं बाल मृत्यु को बढ़ावा देती है। जातिगत विभेद एवं असमानता के कारण भी बच्चे एवं महिलाएं समय मृत्यु का शिकार बनती हैं। देश की कुल जनसंख्या में अनुसूचित जाति एवं जनजाति की भागीदारी 26 प्रतिशत है परंतु अनुसूचित जाति की लगभग 17 करोड़ एवं अनुसूचित जनजाति की लगभग आठ करोड़ जनसंख्या, प्रारंभिक स्वास्थ्य सुविधाओं को पाने से वंचित हैं। यूनिसेफ की रिपोर्ट में इस तथ्य की पुष्टि की गई और उल्लेखित भी किया गया है कि भारत में पिछड़ी जातियों के कुल बच्चों के तीन चौथाई बच्चे रक्तहीनता से ग्रस्त हैं। पिछड़ी जातियों में प्रसव के लिए आज भी देसी प्रसव प्रक्रिया का आश्रय लिया जाता है परिणामत: हर वर्ष बड़ी संख्या में बच्चों और महिलाओं की मृत्यु हो जाती है। आर्थिक असमानता भी बाल मृत्यु को बढ़ावा देने के लिए उत्तरदायी है। वर्ष 2005-06 के मध्य जहां शहरी क्षेत्रों में बाल मृत्युदर प्रति हजार 44 थी वहीं इसी अवधि में ग्रामीण क्षेत्रों में यह दर 1,000 में 76 दर्ज हुई।

स्वस्थ भारत के स्वप्न को साकार करने के लिए सरकारी स्तर पर प्रयास जारी है। राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन केंद्र सरकार का एक महत्वपूर्ण कार्यक्रम है। इसका उद्देश्य एक पूर्ण क्रियाशील, समुदाय आधारित, विकेंद्रीकृत स्वास्थ्य सुपुर्दगी प्रणाली की स्थापना करना है। केंद्र सरकार ने ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन के अन्तर्गत हर गांव में प्रशिक्षित सामाजिक स्वास्थ्य कार्यकर्ता 'आशा' की नियुक्ति करने का निर्णय लिया यह योजना अभी 18 राज्यों में ही लागू है। 11वीं पंचवर्षीय योजना का लक्ष्य 0-3 वर्ष के बच्चों में कुपोषण को घटाकर आधा करना है तथा महिलाओं और बालिकाओं में खून की कमी को वर्तमान स्तर से आधा करना है।

राष्ट्रीय विकास लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु भारत एवं सूनिसेफ ने अगस्त '08 को पांच वर्षीय एक्शन प्लान आरंभ किया। इस एक्शन का मुख्य उद्देश्य शिशु एवं मातृ मृत्युदर में कमी, कुपोषण के खिलाफ संघर्ष, स्वच्छता एवं शिशु रक्षा सुनिश्चित करना होगा। वर्ष 2008-12 के मध्य कंट्री प्रोग्राम के तहत विकास लक्ष्यों को प्राप्त किया जाता है।

राष्ट्रीय स्तर पर स्वास्थ्य के स्तर को बढ़ाने हेतु प्रयास किए जा रहे हैं परन्तु असमानताओं का दंश जब तक भारतीय समाज को भेदता रहेगा तब तक बच्चों और माताओं की असामायिक मौतें भारत के लिए चिंता का विषय बनी रहेंगी।

संदर्भ

1. योजना - 2006
2. योजना - 2009
3. कुरूक्षेत्र - 2007
4. आहार और पोषण - उषा टंडन।

❖❖❖

संचार क्रांति के युग में गृहविज्ञान

श्वेता कान्ता

आज के वैश्विक परिदृश्य में महानगर से लेकर गाँव के चैपाल तक संचार के विभिन्न माध्यमों के प्रयोग ने हमारे समाज के दिनचर्या को ही बदल डाला है।

गृहविज्ञान में ''संचार'' एक प्रकार की शिक्षा है जिसका उद्देश्य मनुष्यों के मानसिक दृष्टिकोण तथा पद्धति में परिवर्तन लाना है। यह ग्रामीण लोगों के राष्ट्रीय साधनों को अपने उचित प्रयोग द्वारा अपने प्रयासों में रहन-सहन के स्तर को बढ़ाने के लिए प्रेरणा देती है। संचार का सीधा संबंध शिक्षा से है। शिक्षा से मनुष्य के व्यवहार सोचने का ढंग एवं उपक्रम में परिवर्तन आता है।

''संचार'' की उत्पत्ति 1908 ई० में राष्ट्रीय आयोग की स्थापना द्वारा सर्वप्रथम अमेरिका के ''राष्ट्रपति रूजवेल्ट'' ने ग्रामीण जनमत को शहरों में जाने से रोकने तथा ग्रामीण जनता को कृषि एवं ग्रामीण विकास के कार्यों में लगाने में उपाय सुलझाने के लिए किया था। आयोग ने यह महसूस किया कि गाँव के लोगों को गाँव में ही रहना चाहिए यह अनिवार्य है जिससे कि कृषि का विकास हो सके।

आयोग के सिफारिस के अनुसार 1914 ई० में समिति लिवर ऐक्ट पास हुआ जिसके अनुसार स्कूलों में बाहर की शिक्षा प्रारम्भ की गई जिसमें कि गाँव के लोग खेतों तथा घर का विकास विकसित ढंग से कर सके। संचार कार्य का मुख्य उद्देश्य लोगों को उनके लक्ष्य तक प्रोत्साहित करना है।

''संचार'' गृहविज्ञान विस्तार शिक्षा का सिद्धान्त है। प्रसार शिक्षा की सफलता एवं अधिकाधिक ग्रामीण महिलाओं की सहभागिता के लिए गृहविज्ञान प्रसार कार्य को निम्नलिखित सिद्धान्तों का पालन करना चाहिए।

(1) प्राथमिक आवश्यकता का सिद्धान्त–प्राथमिक आवश्यकता के सिद्धान्त में विभिन्न अनुसंधानों द्वारा प्रसार कार्यकर्मियों को चाहिए कि कार्य आरम्भ करने से पूर्व ग्रामीण महिलाओं की अनिवार्य आवश्यकताओं को समझ ले। यदि ग्रामीण बच्चे दस्त से पीड़ित है और उस क्षेत्र में मलेरिया, टायफाइड, पीलिया जैसा रोग फैला है तो पहले उसके निवारण के उपाय बतायें।

(2) ग्रामीण महिलाओं के अनुभव जानने के सिद्धान्त–संचार द्वारा प्रसार कार्य-कर्ताओं को ग्रामीण महिलाओं पर केवल अपने विचार ही नहीं थोपने चाहिए, बल्कि उनसे आत्मीयता बढ़ाकर उनसे अनुभव जानने का प्रयत्न भी करना चाहिए। कई बातें ऐसी होती है। जिन्हें ग्रामीण वातावरण में रहकर वे भली-भाँति जानती है। गाँवों में जहाँ शहरी दवाई उपलब्ध नहीं होती, कई व्यक्तियों के घरेलु ग्रामीण, शीघ्र प्रभावकारी इलाज ग्रामीण स्त्रियों अधिक जानती है।

(3) आत्म निर्भरता का सिद्धान्त–संचार का उद्देश्य ही होता है कि मनुष्यों के मानसिक दृष्टिकोण तथा पद्धति में परिवर्तन लाकर आत्मनिर्भर बनाने में सहायता प्रधान करें। जैसे-आरम्भ में आर्थिक सहायता देकर तथा कच्चा माल देकर लघु उधोग शुरू कराने का उपाय बताया जाता है। तथा लोगों को प्रेरित किया जाता है कि छोटे-छोटे लघु उद्योग से पुरुष तथा महिला अपने को आगे बढ़ाकर एक मुकाम पर ले जाये।

(4) जाति धर्म निरपेक्षता का सिद्धान्त–गृहविज्ञान में संचार कार्यकताओं को चाहिए कि वे ग्रामीण समाज में वर्ग, जाति, धर्म के भेद भुलाकर सभी के कल्याण हेतु निष्पक्षता के साथ करे। जिन्हे सहायता की उत्थान की आवश्यकता हो उन सभी के लिए कार्य करे।

(5) यथास्थिति समायोजन का सिद्धान्त–गृहविज्ञान प्रसार कार्यमंत्री को यह सर्वप्रथम कार्यक्षेत्र में सम्पूर्ण वातावण एवं परिस्थितियों का अध्ययन कर लेना आवश्यक होता है। उनकी योग्यता, क्षमता एवं मानसिक स्तर जान लेना चाहिए, जैसे- यदि किसी गाँव के लोग साक्षार है तो वहाँ चार्ट पोस्टर, ग्राफ, नक्शों या ब्लैकबोर्ड का उपयोग भी शिक्षण हेतु किया जा सकता है। किन्तु यदि के आशिक्षित है तब कठपुतली फिल्में नृत्य, गीत, लोकगीत शिक्षण में अधिक प्रभावकारी माध्यम होंगें।

शोध छात्रा, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

(6) सहभागीदारी का सिद्धान्त–''संचार'' द्वारा कार्यकर्ताओं को चाहिए कि वे ग्रामीण महिलाओं, महिला नेताओं के साथ मिलकर उनकी राय लेकर ही कार्यक्रम की रूपरेखा बनाएँ। ऐसा करने से ग्रामीण महिलाएँ स्वयं की महत्ता का अनुभव करेगी। कार्यक्रम में रुचि लेनी तथा अधिकतम सहयोग देगी। महिलाओं की भागीदारी की प्रशंसा करने से भी उनसे आत्मविश्वास पैदा होगा और' भविष्य में वे सदा सहयोग देने के लिए तत्पर रहेगी।

(7) प्रशिक्षित विशेषज्ञों का सिद्धान्त–''संचार'' प्रसार कार्यक्रमों के प्रभावकारी आयोजन के लिए आवश्यक है कि गृहविज्ञान विशेषज्ञों कृषि विशेषज्ञों, डॉक्टरों अथवा विषय-विशेषज्ञों को समय-समय पर बुलाकर ग्रामीणों से उनकी भेंट करवायी जायें। विशेषज्ञों द्वारा वे अधिक लाभान्वित होगें।

(8) स्थानीय संसाधनों का सिद्धान्त–ग्रामीण क्षेत्र में प्रसार कार्य करते समय गृहविज्ञान विशेषज्ञों को यथा स्थानीय संसाधनों का उपयोग ही करना चाहिए केवल अनिवार्य सहायता बाहर से ली जाए जैसे-फलों के बगीचे या साग सब्जियों की वाटिका लगाने के लिए ऐसी भूमि चुने जहाँ पानी के सिचांई के प्रबंध भी पास में ही हो तथा लोग भी आसपास ही रहते थे उसी प्रकार जहाँ बेकार पड़ा पोरवर हो निरर्थक घुमते किशोर हो वहाँ सफाई करके किशोरों के सहयोग से मत्स्य पालन कराया जा सकता है। उसी प्रकार ग्रामीण महिलाओं को पौष्टिक आहार बनाना सिखाते समय स्थानीय उपलब्ध अनाज, दालों, फल-सब्जियों का उपयोग भी बताना चाहिए। मानवीय अथवा मानवेतर जहाँ तक हो, स्थानीय संसाधनों का ही प्रयोग अधिक करना चाहिए।

(9) परिवार तक पहुँच का सिद्धान्त–''संचार'' द्वारा प्रसार शिक्षा कार्यक्रम की योजना इस प्रकार बनायी जाये कि परिवार के सम्पूर्ण लोग लाभान्वित हो सकें। तभी कार्यक्रम सफल होगा। जैसे शाम के समय ग्रामीण महिलाओं के प्रशिक्षण का कोई कार्यक्रम आयोजित हो तो उसी समय उनके परिवार के बच्चों के लिए भी कोई आयोजन होना चाहिए ताकि बच्चे इधर-उधर भटके नहीं और गृहणियाँ भी निश्चिन्त होकर गोष्ठिया में भाग ले सके। महिलाओं में यह स्वभाव भगवान का दिया हुआ वरदान है कि अगर महिलायें एक जगह जमा होगी तो वो आपस में बातचीत किये बर्गर रह ही नहीं सकती है उस स्थिति में बातचीत के माध्यम से संवाद एक दूसरे के बीच संचालित होता है। तथा आपस में जानकारी प्राप्त होती है।

(10) स्वयं करके सीखने का सिद्धान्त–प्रसार कार्यों में स्वंय आये सीखने का सिद्धान्त अधिक प्रभावशाली होता है। ग्रामीण महिलाओं को पहले प्रदर्शन द्वारा कोई चीज बताएं जैसे अमरूद की जैली बनाना, तत्पश्चात् उनसे कहे कि वे अपने-अपने घरों में स्वयं बनाकर अथवा अगली बार सारी आवश्यक सामग्री उनके समक्ष रखकर अपने निर्देशन में उनसे बनवाएं। स्वयं करके वे अधिक अच्छी तरह सीख सकेंगी तथा उनमें आत्मविश्वास पैदा होगा।

किसी भी राष्ट्र के विकास का अनुमान वहाँ के जनसमुदाय की सर्वांगीण प्रगति सामाजिक, आर्थिक स्तर स्वास्थ्य इत्यादि को देखकर लगाया जा सकता है। जिस प्रकार रूस के तकनीकी विकास के पीछे वहाँ कि तकनीकी संस्थाओं एवं जापान के औद्योगिक विकास के पिछे वहाँ के उद्योगों का योगदान है उसी प्रकार भारत के विकास में कहीं न कहीं से प्रत्यक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप से उनकी शिक्षण संस्थाओं का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है।

यदि भारत के जनजीवन का पारिवारिक स्तर सुधरा है, ऊँचा उठा है तो इसका दोष कुछ सीमा तक गृह विज्ञान शिक्षण को भी जाता है। जो अन्ततः राष्ट्रीय विकास को प्रगति करता है।

विकास के विभिन्न क्षेत्रों में सर्वप्रथम योगदान तथा महत्त्वपूर्ण योगदान गृहविज्ञान का ही होता है। संस्थागत शिक्षण का ढांचा अत्यन्त ही सैद्धान्तिक होता है। संचार नवीनतम जानकारियों से परिपूर्ण होने के कारण इनका उद्देश्य व्यक्ति को तुरंत इनसे परीचित करा देना है। उदाहरणार्थ उर्वरक, खाद, बीज, कीटनाशाक आदि के जैसी ही कोई नवीन किस्म का आविष्कार होता है।, उनकी जानकारी शीघ्र-अतिशीघ्र कृषकों तक पहुँचाने का। इसी प्रकार लघु उद्योग से जुड़े लोगों को व्यवसाय संबंधी जानकारी ऋण सुविधाओं की उपलब्धता बिक्री व्यवस्था की जानकारी देना।

संचार क र्य की सफलता अनेक तत्वों पर निर्भर करता है। इसका मुख्य उद्देश्य लोगों को उनके लक्षय तक सफलतापूर्वक पहुँचाने के लिए मन की भावनाओं को प्रेरित करना होता है। संचार ही शिक्षा है तथा मानवीय व्यवहार में अधिकतम परिवर्तन करने की विधि ही शिक्षा है।

❖❖❖

पर्यावरण: भारत के सन्दर्भ में एक विश्लेषण

डॉ० रंजना सिंह

विश्व की तीन प्रमुख समस्याएं हैं जिन्हें Three- p के नाम से सम्बोधित किया जाता है। Population , Poverty, Pollution. इनमें Pollution वर्तमान युग की सबसे विकट समस्या है जो मानव अस्तित्व को ही खतरे मे डाल सकती है।

'मनुष्य जिस देश, काल तथा परिस्थिति में जन्म लेता है और जीवनयापन करता है, वह पर्यावरण कहलाता है।' प्रकृति में हमे जो कुछ दृष्टिगोचर होता है---वायु, जल, मिटट्ी, पादप तथा प्राणी सभी सम्मिलित रुप मे पर्यावरण की रचना करते है।

पारिभाषिक रुप मे पर्यावरण शब्द जीवों की अनुक्रियायों को प्रभावित करनेवाली समस्त भौतिक (physical) तथा जैवीय (biotic) परिस्थितियों का योग है। संक्षेप मे, जीवों को हमेशा घेरे रखनेवाली परिस्थितियां पर्यावरण कहलाती है।

वेब्स्टर शब्दकोष के अनुसार, 'पर्यावरण से आशय उन परिवर्ती परिस्थितियों, प्रभावों तथा शक्तियों से है जो सामाजिक तथा सांस्कृतिक दशाओं के समूहों के रुप में जैसे, रीति-रिवाजों, भाषा, कानून, धर्म तथा आर्थिक व राजनीतिक संगठन किसी व्यक्ति या समुदाय के जीवन को प्रभावित करती है।'

आर. एफ. डाबननायर के अनुसार, 'पर्यावरण का शाब्दिक अर्थ निकटवर्ती दशाओं से है। वातावरण का विश्लेषण अनेक तत्वों मे हो सकता है, जैसे- मिटट्ी, आद्रता, वायु और तापक्रम। वास्तव में, कोई भी बाहरी शक्ति, तत्व या दशा जो जीवधारी को किसी भी प्रकार से प्रभावित करती है, उनके पर्यावरण का एक तत्व बन जाती है। ऐसे सभी तत्वो का योग पर्यावरण कहलाता है।'

सारांश में, हम कह सकते है कि मानव के चारो ओर पाया जानेवाला पारिस्थितिक तंत्र (ecology) ही पर्यावरण है जिसमें उन सभी परिस्थितियों, प्रभावों एवं शक्तियों को सम्मिलित किया जाता है जो भौतिक अथवा रासायनिक रूप में जीवन को प्रभावित करती है।

''भूमि, जल, वायु, आदि जैवियमण्डल के गुणो में मानव जीवन और संस्कृति के लिए उत्पन्न हानिकारक परिवर्तनो को प्रदूषण कहा जाता है।'' पर्यावरण मे संतुलन स्वत: होता रहता है। पृथ्वी सतह के ताप, वायुमण्डलीय गैसीय तत्वों, सूर्य विकिरण आदि जलवायु को प्रभावित करनेवाले विभिन्न तत्वों को प्रकृति अपने आप ही संतुलित करती है किन्तु इस संतुलन की भी एक सीमा होती है। उसके बाद पर्यावरण प्रदूषित होना शुरू हो जाता है। औद्यौगिकरण, शहरीकरण व परमाणु उर्जा आदि के द्वारा हम लाभान्वित अवश्य हुए हैं परन्तु इससे पर्यावरण संतुलन असंतुलित हो गया है। इस असंतुलन से इसके विभिन्न अवयवों यथा जल, वायु, ध्वनि, धूल आदि से प्रदूषण की समस्या गम्भीर होती जा रही है।

वैसे तो वायु प्रदूषण से प्रत्येक क्षेत्र प्रभावित हुआ है परन्तु शहरो में वायु प्रदूषण एक गम्भीर समस्या बनता जा रहा है। औद्योगिक विकास के कारण उद्योगों के चिमनीयों से निकलनेवाली जहरीली गैसें, प्रदूषित जल एवं औद्योगिक कचरों (Industrial wastes) से पर्यावरण प्रदूषित हो रहा है। परमाणु विज्ञान की प्रगति के कारण वातावरण मे रेडियोएक्टिव पदार्थो की अधिकता से वातावरण अधिक दूषित हो रहा है। स्वस्थ वातावरण इतनी जटिल होती जा रही है कि आजकल पर्यावरण की स्वच्छता का नाम बदलकर 'पर्यावरण का स्वास्थ्य' रख दिया गया है।

एक गणना के अनुसार विश्व की औद्योगिक प्रतिष्ठानों की दहन भठ्ठियां 11,300 लाख टन आक्सीजन भस्म कर देती है जिसके फलस्वरूप 11,400 कार्बनडाइआक्साइड विमुक्त हो रही है। प्रतिशत के हिसाब से आक्सीजन की खपत और कार्बनडाइआक्साइड की नियुक्ति 6 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ रही है। इसके साथ 85 प्रतिशत जिवाश्म इंधन से उर्जा प्राप्त होती है जिसके दहन से बड़ी मात्रा में कार्बनडाइआक्साइड निकलती है। कार्बनडाइआक्साइड की अधिकता से पृथ्वी के तापमान में बृद्धि हो रही है। 1993 के एक सर्वेक्षण के अनुसार अकेले संयुक्त राज्य अमेरिका में 21 करोड़ 70 लाख टन कार्बन मोनोक्साइड, 3 करोड 50 लाख टन धूलीकरण, 5 करोड़ 40 लाख टन सल्फरडाइआक्साइड, 3 करोड़ 30 लाख टन नाइट्रोजन के कारण 'प्रदूषण गुंबद' (Pollution Tower) दिखाई देता है। पिट्सवर्ग को 'Black City' कहा जाता है। भारत के भिलाई में 'उच्च तापमान दीप' बन जाते है।

एसोसिएट प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग, आर.डी. एन्ड डी.जे. कॉलेज, मुंगेर

भारतीय उपमहाद्वीप में ब्याप्त प्रदूषण के स्तर की जांच करनेवाले नासा अनुसंधान दल ने बिहार के उपर प्रदूषण की मात्रा लौस एंजिल की तुलना में करीब पाच गुण अधिक पायी है जिसका बूरा असर स्थानीय पर्यावरण और लोगों के स्वास्थ्य पर पड़ रहा है। वर्ड डेवलपमेंट रिर्पोट के अनुसार, ''पर्यावरण सुरक्षा विकास का एक आवश्यक अंग है। बिना पर्यावरण सुरक्षा के विकास असम्भव है, पर्यावरण संरक्षण के बिना विकास की महत्ता कम हो जाती है।''

भारत में वायु प्रदूषण, मृदा अवनति, वन कटाई, सिकुड़ती जल-भूमि, अप्रर्याप्त सार्वजनिक स्वास्थ्य व सफाई, ग्रामीण क्षेत्रों में अंतरंग प्रदूषण, बढ़ता जल अभाव, नदियों में न्यूनतम प्रवाह का अभाव आदि पर्यावरणीय समस्याएं हैं।

पर्यावरण संरक्षण के सरकारी प्रयास

भारत में पर्यावरण की रक्षा एवं पर्यावरण-संतुलन बनाये रखने क लिए निम्न प्रयास किये गये है:

1. *पर्यावरण संरक्षण विभाग का गठन:* भारत में 1980 में एक पर्यावरण संरक्षण विभाग गठित किया गया जो केन्द्रिय सरकार का विभाग है तथा राज्य सरकारो को भी कहा गया कि वे पर्यावरण विभाग स्थापित करें। इन विभागों का कार्य पर्यावरण संरक्षण सम्बन्धी नीतियां बनाना और उन्हें लागू करना है।
2. *पर्यावरण संरक्षण सम्बन्धी नीतियां:* राष्ट्रीय वन नीति 1988, प्रदूषण नियंत्रण के लिए प्रारूप नीति निवारण दास्तवेज 1991, वन संरक्षण अधिनियम 1980, जल रोकथाम और प्रदूषण नियंत्रण अधिनियम 1977, वासु रोकथाम तथा प्रदूषण नियंत्रण अधिनियम 1981, 1987, राष्ट्रीय वन्य जीव कार्य योजना आदि प्रमुख है।
3. *व्यापक पर्यावरण संरक्षण अधिनियम, 1986:* सन् 1986 में एक व्यापक पर्यावरण संरक्षण अधिनियम पूर्व कमियों को दूर करने के लिए लाया गया। इस अधिनियम के अन्तर्गत अनेक केन्द्रीय और राज्य के अधिकारियों को अधिकार सौपे गये। इसके अन्तर्गत किसी भी व्यक्ति, अधिकारी अथवा प्राधिकारी को अधिनियम के प्रावधानों के कार्यान्वयन के लिए निर्देश जारी करने के लिए अधिकार दिए गये थे।
4. *केन्द्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड:* केन्द्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड जल तथा वायु प्रदूषण के आकलन, निगरानी और नियंत्रण की शीर्ष राष्ट्रीय संस्था है। बोर्ड पर जल प्रदूषण की रोकथाम और नियंत्रण अधिनियम, 1974, वायु प्रदूषण की रोकथाम और नियंत्रण अधिनियम, 1981 तथा जल उपष्कर अधिनियम 1977 को लागू करने का कार्यकारी दायित्व है। केन्द्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड वायु, जल और ध्वनि प्रदूषण की रोकथाम और नियंत्रण के किए केन्द्र को सलाह देता है और पर्यावरण संरक्षण अधिनियम 1986 के प्रावधानों को लागू करने के लिए मन्त्रालय को तकनीकी सेवांए प्रदान करता है। इस अधिनियम के अन्तर्गत विभिन्न श्रेणी के उद्योगों के निस्सरण और उत्सर्जन के मानक अधिसूचित किये गये है।
5. *नीतिगत बयान एवं कार्यक्रम:* प्रदूषण मे कमी लाने के लिए सन् 1992 में जारी नीतिगत बयाान मे भूमि, जल और वायु प्रदूषण पर नियंत्रण और कमी लाने के लिए नियमन,वितीय प्रोत्साहनों, स्वैच्छिक अनुबन्धों और शिक्षा कार्यक्रमों और सूचना अभियानों का प्रावधान है। नीतिगत बयान की घोषणा के बाद गतिविधियों का मुख्य केन्द्र निम्नलिखित मुद्दे हैं, जैसे-साफ और कम कचरा पैदा करनेवाली प्रौद्यौगिकी को प्रोत्साहन, मल-जल को फिर से इस्तेमाल/रिसाइक्लींग करना, जल की गुणवत्ता मे सुधार, पर्यावरण समीक्षा, प्राकृतिक सम्पदा का लेखा-जोखा, जन आधारित मानदण्डों का विकास, संस्थागत और मानव संसाधन विकास आदि। प्रदूषण की रोकथाम और नियंत्रण के सभी मामलों को निर्देश और नियंत्रण विधि से हल किया जाता है।
6. *राष्ट्रीय नदी संरक्षण निदेशालय:* गंगा कार्य योजना चरण: 1 के कार्य 1985 में शुरू किये गये थे जिन्हें 31 मार्च 2000 को बंद कर दिया गया। राष्ट्रीय नदी संरक्षण प्राधिकरण की संचालन समीति ने कार्य योजना और नदियों की सफाई सम्बन्धी चल रही अन्य योजनाओं के कार्य की प्रगति की समीक्षा की। गंगा कार्य चरण योजना-1 के तहत प्रदूषण कम करने से सम्बन्धित 261 योजनाओं में से 258 योजनाओं को पूरा किया जा चुका है तथा शेष योजनाएं 2001 तक पूरी होनी थी।

   गंगा कार्य योजना के दूसरे चरण का राष्ट्रीय नदी संरक्षण कार्य योजना के साथ विलय कर दिया गया है। इस विस्तृत कार्य योजना के अन्तर्गत अब तक 69 योजनाएं पूरी हो चुकी है।

7. ओजोन प्रकोष्ठः ओजोन परत को सुरक्षित रखने के लिए सत्तर के दशक के आरंभ में विश्वव्यापी प्रयास किए गये थे जिनके चलते 1985 में ओजोन नष्ट करनेवाले पदार्थों ओ. डी. एस. पर वियना समझौता हुआ और 1987 में मांट्रियल संधि प्रस्ताव पारित हुआ।

   अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग मन्त्रालय, संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम, दक्षिण एशिया सहयोग पर्यावरण कार्यक्रम, अन्तर्राष्ट्रीय समेकित पर्वत विकास केन्द्र तथा अन्तर्राष्ट्रीय एजेन्सीयों, प्रादेशिक संगठनों तथा बहुपक्षीय संस्थानों के लिए प्रमुख एजेंसी के रूप मे कार्य करता है।

पर्यावरण संरक्षण सम्बन्धी सुझाव

प्राकृतिक पर्यावरण पर मुख्तया तीन प्रकार के संकट होते है--दूषित वातावरण, अधि-उपयोग,तथा विनाश। प्राकृतिक के इन संकटों का सामना करने के लिए आवश्यक कार्य नीति के दो पहलू हो सकते है--विनियामक तथा सुरक्षात्मक।

अ. विनियामक नीतिः विनियम की कार्य नीति या परियोजनाएं जहां प्रारंभ हो गयी हो,उनसे यह अपेक्षा है किः

1. पर्यावरणीय क्षति के निर्धारण हेतु कायविधियां और मानक तैयार किये जाने चाहिए तथा पर्यावरण प्रदूषण के लिए व्यापक तथा वास्तविक मानक भी तैयार किये जाने चाहिए।
2. केन्द्रीय और राज्य प्रदूषण मण्डलों को अधिक मजबूत और उदार बनाया जाना चाहिए।
3. घरेलू और कृषि प्रदूषण विशेषकर कीटनाशकों से उत्पन्न प्रदूषणकों के स्त्रोतों का पता लगाने तथा सुधारात्मक उपाय करने के लिए एक प्रतिवेदन तैयार किया जाना चाहिए।
4. परियोजना द्वारा प्रदूषण के स्त्रोतों की पहचान करने तथा वास्तविक रूप में और समयबद्ध तरीके से किये जानेवाले उपायों को सुधार सके, इसके लिए एक विस्तृत प्रतिवेदन तैयार किया जाना चाहिए।
5. उद्योगपतियों को सरकार के साथ बातचीत करके यदि आवश्यक हो तो इस बात के लिए राजी किया जाना चाहिए कि पर्यावरण के प्रभाव से उत्पादन लागत प्रभावित होती है। इसलिए विभिन्न उपायों के जरिए प्रदूषण नियंत्रण के लिए उन्हें अधिक जिम्मेदारी और नेतृत्व करने की आवश्यकता है।
6. प्रदूषण, वन, वन्यजीवन तथा अन्य पर्यावरणीय मुद्यों के सम्बन्ध में कानूनों की अवहेलना के मामलों की सूचना देने पर सार्वजनिक सर्तकता को बढ़ावा दिया जाना चाहिए।
7. प्रदूषण की रोकथाम और पर्यावरणीय क्षति को रोकने में जनता की भागीदारी और सरकारी संगठनों को शामिल करके एवं अच्छी संस्थाओं के माध्यम से आवश्यक तकनीकि सहायता उपलब्ध कराकर जो की इस प्रकार की जानकारी और तकनीकि सलाह देने के किए जिम्मेदार है, सरल बनाया जाना चाहिए तथा केन्द्रिय और राज्यसरकारों द्वारा समूचित तंत्र स्थापित करके सार्वजनिक शिकायतों की सुनवाई को प्रभावी बनाया जाना चाहिए।

ब. सुधरात्मक नीति

1. सुरक्षा की नीति में लोगों को जागरूक करना, कानूनो को कड़ाई से लागू करना, परियोजनाओं पर परिवेशीय प्रभाव का मूल्यांकन करना तथा परिस्थिकीय तन्त्र की उत्पादकता बढ़ाने के लिए प्रयास करना शामिल है।
2. जनता की जागरूकता को बढ़ाना लाभकारी सिद्ध हो सकता है यदि उन्हें खतरों से सचेत कर दिया जाय तथा इसमें कड़े दण्डात्मक उपाय, वित्तीय उपाय और अपराधी के प्रति अवांछित कार्यवाही के लिए कड़ी कार्रवाई शामिल है।
3. सभी परियोजनरओं और कार्यकलापो का उनके क्रियान्वयन से पूर्व संगतियुक्त पर्यावरणीय प्रभाव के मूल्यांकन से निष्पादित करनेवाली एजेन्सियों द्वारा किए जाने वाले उपायो के जरिये प्रकृति के आकर्षण को रोका जा सकता है।
4. प्रकृति के पुर्नसृजन तथा पारिस्थितिकीय तन्त्र की आवश्यकता में बढ़ोतरी करके विनाश को रोका जा सकता है।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. पर्यावरणीय अध्ययन- डा. एस.एन.अवस्थी
2. स्मष्टि अर्थशास्त्र- वी.सी.सिन्हा
3. Ecology and Environment– Dr. P.D. Sharma
4. Industrial Chemistry(1999)– V.K.Sharma
5. Central Polution Control Board (Delhi)

❖❖❖

असंगठित क्षेत्र के श्रमिकों का कल्याण

डॉ० शारदा नन्द सहनी

अंसगठित क्षेत्र के श्रमिकों का कल्याण केंद्र और राज्यों में एक के बाद एक सभी सरकारों के लिए एक बड़ी चिंता का विषय रहा है। देश की श्रमिक संख्या में लगभग 93 प्रतिशत असंगठित क्षेत्र में हैं, जो न केवल बिखरे हुए हैं, बल्कि एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते रहते हैं इनमें ज्यादातर अनपढ़ हैं और मकान, भोजन और कपड़े जैसे बुनियादी आवश्यकताएं भी इन्हें उपलब्ध नहीं है। इतना ही नहीं वे इस तरह के काम में कई पीढ़ियों से लगे हुए हैं। ऐसे लोगों में अपना काम धंधा करने वाले भी हैं, जैसे–गलियों के फेरी लगाने वाले, छोटे दुकानदार, कारीगर, बुनकर, छोटे और बहुत छोटे किसान, मछुआरे और मेहनत मजदूरी करने वाले निर्माण मजदूर, खेतिहर मजदूर, घरेलू नौकर और रिक्शा चालक आदि। क्योंकि ये असंगठित हैं और बिखरे हुए हैं, इसलिए उनकी तरफ लोगों का ध्यान भी कम ही जाता है।

लेकिन इस बात से कोई इंकार नहीं कर सकता कि राष्ट्र के निर्माण और उन्नति में तथा समाज की खुशहाली में उनका योगदान है। ये असंगठित क्षेत्र के मजदूर ही हैं, जो परियोजना के स्थलों पर सबसे पहले पहुंचते हैं, चाहे वे सिंचाई या बिजली परियोजनाएं हों या आवास परिसर हों। ये वही लोग हैं जो उपभोक्ताओं के दरवाजों तक सामान पहुंचाते हैं। ऐसा अनुमान है कि देश के सकल घरेलू उत्पादों में लगभग 60 प्रतिशत में असंगठित क्षेत्र का हाथ है। लेकिन, इसके बदले में सामाजिक सुरक्षा के नाम पर उन्हें कुछ नहीं मिलता या बहुत कम मिलता है, जिसके कारण बीमारी में, बुढ़ापे में बेरोजगारी के समय तथा आकस्मिक मौत होने की स्थिति में उनकी हालत सोचनीय हो जाती है।

न्यूनतम सामाजिक सुरक्षा

असंगठित क्षेत्र में श्रमिकों के लिए उपलब्ध सामाजिक सुरक्षा प्रणाली की समीक्षा के लिए और उसके दायरे को बढ़ाने के लिए सिफारिशें करने के वास्ते संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन सरकार द्वारा केंद्र में राष्ट्रीय असंगठित क्षेत्र उद्यम आयोग का गठन प्रसिद्ध अर्थशास्त्री डॉ. अर्जुन सेन गुप्ता की अध्यक्षता में किया गया। आयोग ने 2006 में अपनी रिपोर्ट सरकार को सौंपी। आयोग ने राष्ट्रीय न्यूनतम सामाजिक सुरक्षा उपायों की सिफारिश की हैं, जो संरक्षात्मक किस्म के हैं। इन प्रस्तावों की मुख्य बातें हैं–बीमारी के समय चिकित्सा लाभ, बीमारी भत्ता और प्रसूति लाभ, प्राकृतिक या दुर्घटना में मुत्यु होने पर जीवन बीमा राशि और गरीबी की रेखा से ऊपर वालों के लिए भविष्य निधि कोष–सह–बेरोजगारी राशि तथा गरीबी की रेखा से नीचे के 60 वर्ष और इससे अधिक उम्र के श्रमिकों के लिए 200 रुपये मासिक पेंशन। असंगठित क्षेत्र के वे सभी श्रमिक, जिनकी मासिक आय 6500 रुपये से कम है, इस योजना का लाभ उठा सकते हैं। योजना में शामिल होने के लिए श्रमिक को केवल अपनी मासिक आय बतानी होती है इसकी जांच की भी कोई जरूरत नहीं होती। माना जाता है कि उसे यह घोषणा सबसे निचले स्तर पर श्रमिक सुविधा केंद्रों में करनी होती है, इसलिए इस योजना के दुरुपयोग की कोई संभावना नहीं है।

यह योजना ऐसी है, जिसमें सभी को अंशदान करना होता है। श्रमिक, मालिक और सरकार प्रतिदिन एक रुपया (यानि 3 रुपये प्रतिदिन) देंगे। क्योंकि 17 प्रतिशत अनौपचारिक श्रमिक (गैर–कृषि क्षेत्र में) ऐसे हैं, जिनके काम देने वाले मालिक जाने–माने हैं, उनका अंशदान सरकार द्वारा दिया जा सकता है। गरीबी की रेखा से नीचे के श्रमिकों को भी अंशदान से छूट दी जाएगी और इसका भुगतान केंद्र सरकार द्वारा किया जाएगा। बाकी का सरकारी अंशदान केंद्र और राज्य सरकारों द्वारा 75:25 के अनुपात में दिया जाएगा। लगता है कि बहुत ही कम मामलों में नियोक्ताओं को अंशदान देना होगा और लगभग पूरा खर्च सरकार द्वारा ही उठाया जाएगा।

अंशदान से हर साल प्रत्येक श्रमिक के लिए 1025 रुपये की राशि इकट्ठी हो जाएगी। सिफारिशों के अनुसार उस राशि से श्रमिकों को तीन प्रकार की सामाजिक सुरक्षा मिलेगी।

(i) श्रमिक और उसके परिवार को एक वर्ष में 15 हजार रुपये तक का चिकित्सा लाभ, श्रमिक या उसके जीवन साथी के लिए 1000 रुपये का प्रसूति

एम.आई.टी., दाउदपुर कोठी, मुजफ्फरपुर

लाभ और 3 दिन से अधिक दिनों तक अस्पताल में रहने पर 15 दिन का बीमारी भत्ता

(ii) आयोग ने स्थायी विकलांगता के लिए 15,000 रुपये की बीमा राशि की और दुर्घटना होने पर 1500 रुपये की राशि की सिफारिश की है।

(iii) आयोग ने भविष्य निधि के लिए भी सिफारिश की है जिस पर निश्चित रूप से 10 प्रतिशत का ब्याज मिलेगा। श्रमिक चाहें तो समय अवधि पूरी होने पर इसे ले सकते हैं, या इसे वार्षिकी (एन्विटी) में बदल सकते हैं। गरीबी रेखा से नीचे के श्रमिकों के लिए राष्ट्रीय वृद्धावस्था पेंशन योजना का विस्तार करके 200 रुपये मासिक पेंशन की व्यवस्था की गई है।

संघीय ढांचा

योजना तैयार करने और उसे लागू करने के लिए एक संघीय ढांचे की सिफारिश की गई है जिसके अंतर्गत केंद्र में एक राष्ट्रीय सामाजिक सुरक्षा बोर्ड होगा और राज्य के सामाजिक सुरक्षा बोर्ड, राज्य और जिला स्तरों पर वैसा ही काम करेंगे। श्रमिक सुविधा केंद्रों के रूप में गैर सरकारी संगठन, मजदूर संघ आदि इस योजना में सहायता करेंगे, जिसमें श्रमिकों का पंजीकरण भी शामिल होगा। लेकिन श्रमिकों का वास्तविक पंजीकरण करना और उन्हें पहचान पत्र जारी करना, जिला समतियों की जिम्मेदारी होगी। सामाजिक सुरक्षा बोर्ड, भारतीय जीवन बीमा निगम, सामान्य बीमा कंपनियों, म्यूच्अल फंड और डाकघरों के साथ समझौते करेंगे, जिसके देशभर में पेंशन और अन्य लाभ देने के लिए लगभग 156000 केंद्र हैं। पूरी योजना विभिन्न चरणों में 5 वर्ष में पूरी की जाएगी। केंद्र और राज्य सरकारों को पांचवें वर्ष में लगभग 25,401 करोड़ रुपये का आर्थिक बोझ उठाना होगा। क्योंकि उस समय तक सभी लाभार्थियों को इस योजना में शामिल किया जा चुका है। इस योजना को लागू करने के लिए केंद्र सरकार का संसद के इस मानसून सत्र में विधेयक लाने की योजना है। इसमें कोई संदेह नहीं कि असंगठित क्षेत्र के श्रमिकों की तकलीफों को दूर करने में सामाजिक सुरक्षा योजना भूमिका निभाएगी। लेकिन कोष के लिए राशि का जमा होना और श्रमिकों को लाभ पहुंचाने की कारगर व्यवस्था करना, ऐसे दो प्रमुख पहलू हैं जिसके लिए बहुत बड़ी राजनीतिक इच्छा शक्ति और नये-नये उपायों की आवश्यकता है। जब सभी मजदूर योजना के दायरे में आ जाएंगे, तो सरकार को हर वर्ष 25401 करोड़ रुपये वार्षिक की आवश्यकता होगी। इस प्रकार का सुझाव दिया गया है सरकार यह राशि करों पर उपकर लगाकर या सामाजिक सुरक्षा कर लागू करके या व्यय की राशि का फिर से निर्धारण करके यह राशि जुटा कर सकती है। लेकिन यह आसान नहीं है। केंद्र सरकार पहले ही आयकर पर 2 प्रतिशत शिक्षा उपकर लगा चुकी है, विभिन्न सेवाओं पर सेवाकर लगाया गया है। सड़कों के विकास के लिए सरकार डीजल और पेट्रोल की बिक्री पर एक रुपया प्रति लीटर ले रही है देश के 200 जिलों में सरकार ने महत्वाकांक्षी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना शुरू की है, जिसमें विभिन्न चरणों में देश के सभी ग्रामीण क्षेत्रों को शामिल कर लिया जाएगा। कई राज्यों की वित्तीय स्थिति को देखते हुए किसी नई योजना के लिए धन निकालना उनके लिए आसान नहीं होगा।

बड़ी चुनौती

योजना का लाभ श्रमिकों तक पहुंचना एक बहुत बड़ी चुनौती है, क्योंकि वे बिखरे हुए हैं और सरकारी एजेंसियों के कामकाज की भी जानकारी नहीं है। राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना इसका ज्वलंत उदाहरण है। कहा जाता है कि गरीबी की रेखा से नीचे के लोगों के लिए योजना के अंतर्गत जो अनाज दिया जाता है, उसे असामाजिक तत्व मंडियों में पहुंचा देते हैं। इन सब रुकावटों के बावजूद इस योजना को लागू करने के लाभ केवल इन मजदूरों तक ही सीमित नहीं रहेंगे, बल्कि इससे पूरी अर्थव्यवस्था और समाज को भी लाभ पहुंचेगा इससे उत्पादकता बढ़ेगी और श्रमिकों का रहन-सहन बेहतर होगा।

संदर्भ

1. Bhalotra, Sonia R (1998): "The Puzzle of Jobless Growth in Indian Manufacturing", *Oxford Bulletin of Economics and Statistics*, Vol. 60, No. 1.
2. Dutta Roy, Sudipta (2002): "Jon Security Regulation and Worker Turnover: A Study of the Indian Manufacturing Sector", *Indian Economic Review*, Vol. 37, No. 1.
3. Goldar, Biswanath (2000): "Employment Growth in Organised Manufacturing in India", *Economic and Political Weekly*, Vol. 35, No. 14, April 1.

❖❖❖

Partition, Pakistan and Muslim League

Kumud Kumari

Anti partition agitation staged by Hindus made it clear to the Muslims that they must have a separate political organization. In December, 1906 Muslim Leaders from all over the Sub Continent assembled in Dacca to attend the All India Muhammadan to establish a central political organization for Muslims called the "All India Muslim League." The Muslim League was established with the primary aim of protecting the political rights of Indian Muslims and presenting their demands and problems before the British Government.

Foundation of Muslim League

The success of Simla Deputation made it imperative for the Muslims of the Sub Continent to have their own political organization. In 1906, the Muslims of India founded a political party of their own known as *"All India Muslim league."*

Causes of Muslim League's Foundation

The partition of Bengal by the British Government in 1905 greatly embittered the relations between Hindus and Muslims. The partition ensured a number of political benefits for the Muslim but the Hindus reacted towards the partitions of Bengal in a hostile and violent manner. This made it clear that the Hindus were not willing to give Muslims their due share. This violent protest of the Hindus convinced the educated Muslims that they could be redeemed only if they created their own political force and their own leadership.

R.S., J.P. University, Chapra

Aims of Muslim League

The aims of Muslim League are given below:

1. To safe guard and protect Muslim interests and to convey their demands to British Government.
2. To create a feeling of respect and good will in Muslim for the British Government.
3. To promote brotherhood between the different nations of India.

Role of Muslim League

The role played by All India Muslim League in the creation of Pakistan is summarized under:

1. *Minto – Morley Reform Act – 1909:* The Muslims under the able leadership of the Muslim league now began to press for the separate electorate for the Muslims. The authorities accepted their demand in an Act, called *"The Minto – Morley Reform Act"*, in 1909.
2. *Lucknow Pack – 1916:* In November 1916, two committees of League and Congress met at Calcutta and drew an agreement draft of political reform for India called *"Lucknow Pact."* Through this pact the Congress recognized the separate status of Muslims.
3. *Simon Commission:* In 1927, Simon Commission was sent to India under the chairmanship of Sir John Simon to settle Muslim Hindu differences. It was rejected because there was no Indian member on the commission.
4. *Jinnah's Fourteen Points – 1929:* The Quaid-e-Azam refused to accept the Nehru – report. In order to protect the Muslim's point of view on the political issues of South Asia, he prepared a draft of guiding principles consisting of 14 points, popularly known as *"Jinnah's Fourteen Points."*
5. *Allama Iqbal's Allahabad Address – 1930:* In 1930, in his presidential address at annual session of League at Allahabad, Iqbal

proposed the formation of a separate Muslim State by combining Northern and South-Western Muslim majority region in Sub Continent.

6. *Day of Deliverance:* On 22 December, Muslim League observed *"Deliverance Day"* to thank God for resignation of Congress Ministers.
7. *Pakistan Resolution - 1940:* The attitude of the Hindus made it clear that the Hindus and the Muslims were two separate nations. On March 23, at the annual session of Muslim League at Lahore, the famous resolution, commonly known as the Pakistan Resolution was passed. It was presented by Maulvi Fazlul Haq. Quaid-e-Azam said in his address: "By all means Muslims are one nation and they need a separate homeland where they could live their spiritual, cultural, economical, social and political lives independently."
8. *Cripps Mission - 1942:* Sir Stafford Cripps was sent by the British Government to India, to discuss with Indian leaders, the future Indian Constitutions. His proposal was rejected by both the Congress and the League. The Congress characterized them as "a postdated cheque on a failing bank." Jinnah said that: "If these were accepted "Muslims would become a minority in their majority provinces as well."
9. *Gandhi Jinnah Talks - 1944:* Gandhi held talks with Jinnah to discuss about the future of India, but no fruitful results came out of it because Gandhi did not accept Muslims as a separate nation.

   Louis Feisher wrote: "The wall between Jinnah and Gandhi was the Two Nation Theory."
10. *Simla Conference - 1945:* Lord Wavell called a conference at Simla. The conference failed to achieve any purpose due to one sided attitude of Lord Wavell. In this conference, Quaid-e-Azam made it crystal clear that the Muslim League can represent Muslims of India.
11. *General Elections – 1945 - 1946:* Elections for the central and provincial assemblies were held in 1945-1946 in which Muslim League won 30 seats of central legislative meant for Muslims and 430 seats out of 495 in the provincial legislative. Quaid-e-Azam said on this occasion: "I have no doubt now in the achievement of Pakistan. The Muslims of India told the world what they want. No power of world can topple the opinion of 10 crore Muslims of India."
12. *Cabinet Mission - 1946:* Cabinet Mission visited India in 1946 and submitted its recommendations to the Britishers. As a result Interium Government was formed but Congress and League couldn't cooperate amongst themselves.
13. *Delhi Convention - 1946:* Quaid-e-Azam called a convention of all the Muslim League members at Delhi. At the convention every member took the pledge to under go any danger for the attainment of national goal of Pakistan.
14. *3 June Plan - 1947:* Lord Mount Batten prepared the plan for transference of power according to the wish of people. He emphasized on the partition of the country and told that it was the only solution of the Indian political deadlock. Both League and Congress accepted the plan.

Creation of Pakistan

In 1940 the Muslim League formally endorsed the partitioning of British India and the creation of Pakistan as a separate Muslim state. During pre-independence talks in 1946, therefore, the British government found that the stand of the Muslim League on separation and that of the Congress on the territorial unity of India were irreconcilable. The British then decided on partition and on August 15, 1947, transferred power dividedly to India and

Pakistan. The latter, however, came into existence in two parts: West Pakistan, as Pakistan stands today, and East Pakistan, now known as Bangladesh. The two were separated by 1,600 km (1,000 mi) of Indian territory.

Problems of Partition

The division of the subcontinent caused tremendous dislocations of populations. Some 6 million Hindus and Sikhs moved from Pakistan into India, and about 8 million Muslims migrated from India to Pakistan.

The demographic shift was accompanied by considerable inter-ethnic violence, including massacres, that reinforced bitterness between the two countries. This bitterness was further intensified by disputes over the accession of the former native states of India to either country. Nearly all of these 562 widely scattered polities had joined either India or Pakistan; the princes of Hyderabad, Junagadh, and Kashmir, however, had chosen to join neither country. On August 15, 1947, these three states became technically independent, but when the Muslim ruler of Junagadh, with its predominantly Hindu population, joined Pakistan a month later, India annexed his territory. Hyderabad's Muslim prince, ruling over a mostly Hindu population, tried to postpone any decision indefinitely, but in September 1948 India also settled that issue by pre-emptive annexation. The Hindu ruler of Jammu and Kashmir, whose subjects were 85 per cent Muslim, decided to join India. Pakistan, however, questioned his right to do so, and a war broke out between India and Pakistan. Although the UN subsequently resolved that a plebiscite be held under UN auspices to determine the future of Kashmir, India continued to occupy about two thirds of the state and refused to hold a plebiscite. This deadlock, which still persists, has intensified suspicion and antagonism between the two countries.

References

- Fazal Haque: *Every day with the Quaid-i-Azam*, Karachi, Sultan Ashraf Qureshi, 1976.
- Francis G.: *India's Revolution: Gandhi and the Quit India Movement*, Harvard UP, Cambridge, 1973.
- Gilmartin, David: *Empire and Islam: Punjab and the Making of Pakistan*, London, Oxford UP, 1988.
- Goetz, Hermann: *The Art of India*, MacMillan, New York, 1964.
- Green, Martin: *The Challenge of the Mahatmas*, Basic Books, New York, 1978.
- Gupta, P. S.: *Towards Freedom: Documents on the Movement for Independence in India, 1942-1944*, Delhi, Oxford UP, 1997.
- Gurharpal Singh: *Region and Partition: Bengal, Punjab and the Partition of the Subcontinent,* Karachi: Oxford University Press, 1999.
- Harun-or-Rashid: *The Foreshadowing of Bangladesh : Bengal Muslim League and Muslim Politics (1906-1947)*, University Press, Delhi, 2003.
- Hasan, Khalid: *Quaid-i-Azam Mohamed Ali Jinnah: A Centenary Tribute,* London, Information Division, Embassy of Pakistan, 1976.
- Hasan, Murhirul: *India Partitioned: The Other Face of Freedom*, New Delhi, Roli Books, 1995.
- Haynes, Jeff: *Religion, Globalization, and Political Culture in the Third World*, New York, St. Martin's Press, 1999.
- Hodson, H. V.: *The Great Divide: Britain-India-Pakistan*, Karachi, Oxford UP, 1993.
- Ispahani, M. A. H.: *Quaid-i-Azam Jinnah As I Knew Him*, Karachi, Forward Publications Trust, 1966.
- Jafar, Malik Muhammad: *Jinnah as a Parliamentarian*, Lahore, Afzar Publications, 1977.
- Jain, Jasbir: *Reading Partition, Living Partition*, Rawat Publications, 2007.
- Jain, Vidya: *M.K. Gandhi, Leader of the Masses*, Deep & Deep Publications, New Delhi, 1995.
- Jalal, Ayesha: *The Sole Spokesman: Jinnah, the Muslim League and the Demand for Pakistan*, Cambridge, Cambridge UP, 1985.

❖❖❖

Myths and Popular Beliefs about British Rule

Dharmendra Kumar

While few educated South Asians would deny that British Colonial rule was detrimental to the interests of the common people of the sub-continent - several harbor an illusion that the British weren't all bad. Didn't they, perhaps, educate us - build us modern cities, build us irrigation canals - protect our ancient monuments - etc. etc. And then, there are some who might even say that their record was actually superior to that of independent India's! Perhaps, it is time that the colonial record be retrieved from the archives and re-examined - so that those of us who weren't alive during the freedom movement can learn to distinguish between the myths and the reality.

Literacy and Education

Several Indians are deeply concerned about why literacy rates in India are still so low. So in the last year, I have been making a point of asking English-speaking Indians to guess what India's literacy rate in the colonial period might have been. These were Indians who went to school in the sixties and seventies (only two decades after independence) - and I was amazed to hear their fairly confident guesses. Most guessed the number to be between 30% and 40%. When I suggested that their guess was on the high side - they offered 25% to 35%. No one was prepared to believe that literacy in British India in 1911 was only 6%, in 1931 it was 8%, and by 1947 it had crawled to 11%! That fifty years of freedom had allowed the nation to quintuple it's literacy rate was something that almost seemed unfathomable to them. Perhaps - the British had concentrated on higher education ....? But in 1935, only 4 in 10,000 were enrolled in universities or higher educational institutes. In a nation of then over 350 million people only 16,000 books (no circulation figures) were published in that year (i.e. 1 per 20,000).

Urban Development

It is undoubtedly true that the British built modern cities with modern conveniences for their administrative officers. But it should be noted that these were exclusive zones not intended for the "natives" to enjoy. Consider that in 1911, 69 per cent of Bombay's population lived in one-room tenements (as against 6 per cent in London in the same year). The 1931 census revealed that the figure had increased to 74 per cent - with one-third living more than 5 to a room. The same was true of Karachi and Ahmedabad. After the Second World War, 13 per cent of Bombay's population slept on the streets. As for sanitation, 10-15 tenements typically shared one water tap!

Yet, in 1757 (the year of the Plassey defeat), Clive of the East India Company had observed of Murshidabad in Bengal: "*This city is as extensive, populous and rich as the city of London...*" (so quoted in the Indian Industrial Commission Report of 1916-18). Dacca was even more famous as a manufacturing town, it's muslin a source of many legends and it's weavers had an international reputation that was unmatched in the medieval world. But in 1840 it was reported by Sir Charles Trevelyan to a parliamentary enquiry that Dacca's population had fallen from 150,000 to 20,000. Montgomery Martin - an early historian of the British Empire observed that Surat and Murshidabad had suffered a similiar fate. (This phenomenon was to be replicated all over India - particularly in Awadh (modern U.P) and other areas that had offered the most heroic resistance to the British during the revolt of 1857.)

The percentage of population dependant on agriculture and pastoral pursuits actually rose to 73% in 1921 from 61% in 1891. (Reliable figures

R.S., LNMU, Darbhanga

for earlier periods are not available.)

In 1854, Sir Arthur Cotton writing in "Public Works in India" noted: "*Public works have been almost entirely neglected throughout India... The motto hitherto has been: 'Do nothing, have nothing done, let nobody do anything.....*" Adding that the Company was unconcerned if people died of famine, or if they lacked roads and water.

Nothing can be more revealing than the remark by John Bright in the House of Commons on June 24, 1858, "*The single city of Manchester, in the supply of its inhabitants with the single article of water, has spent a larger sum of money than the East India Company has spent in the fourteen years from 1834 to 1848 in public works of every kind throughout the whole of its vast dominions.*"

Irrigation and Agricultural Development

There is another popular belief about British rule: 'The British modernized Indian agriculture by building canals'. But the actual record reveals a somewhat different story. "*The roads and tanks and canals,*" noted an observer in 1838 (G. Thompson, "India and the Colonies," 1838), ''*which Hindu or Mussulman Governments constructed for the service of the nations and the good of the country have been suffered to fall into dilapidation; and now the want of the means of irrigation causes famines.*" Montgomery Martin, in his standard work "The Indian Empire", in 1858, noted that the old East India Company "*omitted not only to initiate improvements, but even to keep in repair the old works upon which the revenue depended.*"

The Report of the Bengal Irrigation Department Committee in 1930 reads: "*In every district the Khals (canals) which carry the internal boat traffic become from time to time blocked up with silt. Its Khals and rivers are the roads end highways of Eastern Bengal, and it is impossible to overestimate the importance to the economic life of this part of the province of maintaining these in proper navigable order .....*" "*As regards the revival or maintenance of minor routes, ... practically nothing has been done, with the result that, in some parts of the Province at least, channels have been silted up, navigation has become limited to a few months in the year, and crops can only be marketed when the Khals rise high enough in the monsoon to make transport possible*".

Sir William Willcock, a distinguished hydraulic engineer, whose name was associated with irrigation enterprises in Egypt and Mesopotamia had made an investigation of conditions in Bengal. He had discovered that innumerable small destructive rivers of the delta region, constantly changing their course, were originally canals which under the English regime were allowed to escape from their channels and run wild. Formerly these canals distributed the flood waters of the Ganges and provided for proper drainage of the land, undoubtedly accounting for that prosperity of Bengal which lured the rapacious East India merchants there in the early days of the eighteenth century.. He wrote" *Not only was nothing done to utilize and improve the original canal system, but railway embankments were subsequently thrown up, entirely destroying it. Some areas, cut off from the supply of loam-bearing Ganges water, have gradually become sterile and unproductive, others improperly drained, show an advanced degree of water-logging, with the inevitable accompaniment of malaria. Nor has any attempt been made to construct proper embankments for the Gauges in its low course, to prevent the enormous erosion by which villages and groves and cultivated fields are swallowed up each year.*"

"Sir William Willcock severely criticizes the modern administrators and officials, who, with every opportunity to call in expert technical assistance, have hitherto done nothing to remedy this disastrous situation, from decade to decade." Thus wrote G. Emerson in "Voiceless Millions," in 1931 quoting the views of Sir William Willcock in his "Lectures on the Ancient System of Irrigation in Bengal and its Application to Modern Problems" (Calcutta University Readership Lectures, University of Calcutta, 1930)

Modern Medicine and Life Expectancy

Even some serious critics of colonial rule grudgingly grant

that the British brought modern medicine to India. Yet - all the statistical indicators show that access to modern medicine was severely restricted. A 1938 report by the ILO (International Labor Office) on "Industrial Labor in India" revealed that life expectancy in India was barely 25 years in 1921 (compared to 55 for England) and had actually fallen to 23 in 1931! In his recently published *"Late Victorian Holocausts"* Mike Davis reports that life expectancy fell by 20% between 1872 and 1921. In 1934, there was one hospital bed for 3800 people in British India and this figure included hospital beds reserved for the British rulers. (In that same year, in the Soviet Union, there were ten times as many.) Infant mortality in Bombay was 255 per thousand in 1928. (In the same year, it was less than half that in Moscow.)

References

- M. M. Ahluwalia, *Freedom Struggle in India,*
- Shah, Khambata: *The Wealth and Taxable Capacity of India*
- G. Emerson, *Voiceless India*
- W. Cunningham, *Growth of English Industry and Commerce in Modern Times*
- Brooks Adams, *The Law of Civilization and Decline*
- J. R. Seeley, *Expansion of England*
- H. H. Wilson, *History of British India*
- D. H Buchanan, *Development of Capitalist Enterprise in India*
- L. C. A Knowles: *Economic Development of the Overseas Empire*
- L. H. Jenks: *The Migration of British Capital*

❖❖❖

Social Relations in India: A Historical Analysis

Dr. Dayanand

Caste and Gender Equations in Indian History

No aspect of Indian history has excited more controversy than India's history of social relations. Western indologists and Western-influenced Indian intellectuals have seized upon caste divisions, untouchability, religious obscurantism, and practices of dowry and sati as distinctive evidence of India's perennial backwardness. For many Indologists, these social ills have literally come to define India - and have become almost the exclusive focus of their writings on India.

During the colonial period, it served the interests of the British (and their European cohorts) to exaggerate the democratic character of their own societies while diminishing any socially redeeming features of society in India (and other colonized nations). Social divisions and inequities were a convenient tool in the arsenal of the colonizers. On the one hand, tremendous tactical gains could be achieved by playing off one community against the other. On the other hand, there were also enormous psychological benefits in creating the impression that India was a land rife with uniquely abhorrent social practices that only an enlightened foreigner could attempt to reform. India's social ills were discussed with a contemptuous cynicism and often with a willful intent to instill a sense of deep shame and inferiority.

Strong elements of such colonial imagery continue to dominate the landscape of Western Indology. A liberal, dynamic West embracing universal human values is posed against an obdurate and unchanging East clinging to odious social values and customs.

It is little wonder, therefore, that India's intellectuals have been unable to either fully understand the historic dynamics and context which gave life to these social practices or find effective solutions for their cure. Many historians and social activists appear to have tacitly accepted the notion that caste divisions in society are a uniquely Indian feature and that Indian society has been largely unchanged since the writing of the *Manusmriti* which provides formal sanction to such social inequities. But caste-like divisions are neither uniquely Indian nor has Indian society been as socially stagnant as commonly believed. In all non-egalitarian societies where wealth and political power were unequally distributed, some form of social inequity appeared and often meant hereditary privileges for the elite and legally (or socially) sanctioned discrimination against those considered lower down in the social hierarchy.

In fact, caste-like divisions are to be found in the history of most nations - whether in the American continent, or in Africa, Europe or elsewhere in Asia. In some societies, caste-like divisions were relatively simple, in others more complex. For instance, in Eastern Africa some agricultural societies were divided between land-owning and landless tribes (or clans) that eventually took on caste-like characteristics. Priests and warriors enjoyed special privileges in the 15th C. Aztec society of Mexico as did the Samurais (warrior nobles) and priests of medieval Japan. Notions of purity and defilement were also quite similar in Japanese society and members of society who carried out "unclean" tasks were treated as social outcasts - just as in India.

Amongst the most stratified of the ancient civilizations was the Roman Civilization where in addition to state-sanctioned slavery, there were all manner of caste-like inequities coded into law.

MIT, Daudpur Kothi, Muzaffarpur

Even in the Christian era, European feudalism provided all manner of hereditary privileges for the knights and landed barons (somewhat akin to India's Rajputs and Thakurs) and amongst the royalty, arranged marriages and dowry were just as common as in India. Discrimination against the artisans was also commonplace throughout Europe, and as late as the 19th century - artisans in Germany had to go through a separate court system to seek legal redress. They were not permitted to appeal to courts that dealt with the affairs of the nobility and the landed gentry. (For instance, Beethoven wrote numerous letters to German judicial authorities pleading that he not be treated as a second-class citizen - that as Germany's pre-eminent composer he deserved better treatment.)

A common pattern that seems to emerge from a study of several such ancient and medieval societies is that priests and warriors typically formed an elite class in most medieval societies and social privileges varied according to social rank; in settled agriculture based societies, this was usually closely related to ownership of land. For instance, we find no evidence of caste-like discrimination in societies where land was collectively owned and jointly cultivated, or where goods and services were exchanged within the village on the basis of barter, and there was no premium assigned to any particular type of work. All services and all forms of human labor were valued equally. Such village communes may have once existed throughout India and some appear to have survived until quite recently - especially in the hills, (such as in parts of Himachal and the North East, including Assam and Tripura), but also in Orissa and parts of Central India. In such societies, we also see little evidence of gender discrimination.

In India, caste and gender discrimination appear to become more pronounced with the advent of hereditary and authoritarian ruling dynasties, a powerful state bureaucracy, the growth of selective property rights, and the domination of Brahmins over the rural poor in *agrahara* villages. But this process was neither linear nor always irreversible. As old ruling dynasties were overthrown, previously existing caste equations and caste hierarchies were also challenged and modified. In many parts of India this process may have taken several centuries to crystallize and caste rigidity may be a much more recent phenomenon than has been commonly portrayed. The impression that caste divisions were always strictly enforced, or that there were no challenges to caste rigidity does not seem to square with a dispassionate examination of the Indian historical record. It should also be emphasized that caste-distinctions were not the only way, or even the most egregious way in which social inequities manifested themselves in older societies. In ancient Greece and Rome, the institution of slavery was at least as cruel a practice, if not worse. (It is therefore quite ironic how the slave-owning Greek states are revered by Western intellectuals as the world's first "democratic" societies but ancient India is denigrated for it's incomprehensible social ills.)

Levels and degree of caste discrimination in India have varied with time and there has been both upward and downward mobility of castes and social groups. Going by the strictures outlined in the *Manusmriti,* one might conclude that caste distinctions were set in stone, rigidly enforced and the possibilities of caste mobility completely circumscribed. But a closer examination of the historical record suggests otherwise.

Already in the Upanishadic period there were tensions between Brahmins and Kshatriyas, and there are explicit parables in the Upanishadic texts illustrating how an enlightened Kshatriya was able to exceed a Brahmin in spiritual wisdom and philosophical knowledge. In the Mahabharatha, there are references to a Brahmin warrior suggesting that caste categories were not entirely inflexible.

There is also criticism of parasitism amongst Brahmins in some of the texts from the Upanishadic period, and social commentators emphasized

how those who reneged on their social obligations were undeserving of their caste privileges.

This is an important point because it suggests that there was an implied social contract that involved both privileges and social obligations.

The monarch might have enjoyed immense power and prestige, and exacted numerous rights over the common people, but also had the obligation to defend the people - to protect them from invaders, to dispense justice in an unprejudiced manner and assist in the development and preservation of irrigation facilities and roads. Failure to meet such expectations could and did lead to revolts, and dynasties rose and fell within a matter of few generations.

Challenges to Brahminical Hegemony and Caste-rigidity

In the Upanishads, there is also recognition that conceptions of god could be quite varied, that Brahminical rituals were not essential to spiritual release, and that individuals might choose different deities or methods of worship. This ecumenical outlook facilitated the growth of alternative viewpoints not only in the realm of religious practice but also on norms of how society ought to be structured.

Social challenges to absolute monarchical rule and the immense power of the priestly class probably led to a crescendo during the Buddhist period when Brahmin hegemony received challenges from several quarters - from radical atheists such as the *Lokayatas,* from Jain agnostics, and heterodox Hindus and Buddhists who wanted to reconstruct society on a less discriminatory and more humane basis.

Although it would be wrong to romanticize the Buddhists as being completely against caste distinctions {since there is evidence that they accepted caste distinctions in society outside their *sanghas* (communes)}, Buddhists along with other social critics undoubtedly played a powerful role in ensuring that caste was not the sole or even the dominant factor in shaping Indian society of that period. This is borne out by how so many ruling clans arose from a non-Kshatriya (and also non-Brahmin) background. The Nandas, the Mauryas, the Kalingas and the Guptas are just some of the more illustrious of India's ruling dynasties that did not arise from a Kshatriya background.

(Of course, once some of these clans established themselves as ruling dynasties, they took on the Kshatriya mantle, and over time, the radical changes that accompanied their ascent to power gave way to social conservatism and a decaying of the radical currents that had contributed to their rise to power).

It is also worth noting that the classical four varna division of Hindu society (as described in the *Manusmriti)* does not appear to have had much practical significance if one were to go by the accounts of the Greek chronicler, Megasthenes. In his accounts of Mauryan India. Megasthenes appears to list a seven fold social order in which he differentiates between the priest and the philosopher (who he ranked much above the priest, and who could have been a Brahmin, Jain or Buddhist) and also gives special attention to court bureaucrats such as record keepers, tax collectors and judicial officials. He also ascribed to the peasantry a higher status than might be inferred from the *Manusmriti* and noted with amazement how the peasantry was left unharmed during battles.

According to Megasthenes, philosophers - whether Brahmins or Jain/Buddhist monks also had obligations in terms of offering advice to the ruler in matters of public policy, agriculture, health and culture. Repeated failure to provide sound counsel could lead to a loss of privileges - even exile or death. Thus, although many Brahmins may have held on to their privileges by being shameless sycophants - others made significant contributions in the realm of science, philosophy and culture. Social mobility was possible since learning was not an exclusive preserve of the Brahmins and

both the Buddhist and Jain sanghas admitted people from different social backgrounds and also admitted women. (Jyotsna Kamat points to a Karnataka inscription from 1187 A.D. that suggests that Jain nuns enjoyed the same amount of freedom as their male counterparts.) The more advanced *sanghas* enforced a separate quorum for women to ensure that a largely male gathering may not take decisions that did not meet with the approval of the women members of the *sangha*.

Over time, it appears that the *sanghas* degenerated, losing their intellectual vitality and egalitarian spirit allowing the Brahmins to gradually consolidate their power and influence in the Gangetic plain. But even as late as the 6th-7th C, Gupta-period inscriptions describing land grants in Bengal appear to corroborate Megasthenes' view of how Indian society was structured. Social rank of senior court administrators (who may have risen from different caste backgrounds) invariably exceeded the rank of ordinary village priests.

(In Orissa, Rajasthan and parts of Central and Southern India, this pattern prevailed till even later. Moreover, as society headed towards caste-ossification, it was the court administrators who after acquiring hereditary caste status, became the most privileged agents in society. In some instances, these administrative castes simply merged with other privileged castes such as Brahmin or Kshatriya, or else they were treated as equivalent, and the historic distinctions between then became blurred or obscured.)

In a sampling of Gupta period land grant decrees, it is intriguing that caste identities are omitted more often than explicitly included. Had caste been as important or dominant a social category, one might expect otherwise. Some of the most important figures appear to be officials involved in tax collection and land measurement. Various ranks of officials are mentioned without any explicit mention of their caste. Villagers are also frequently named without reference to their cast. Only occasionally, there are references to villagers who are also mentioned as being Brahmins. Some of the land grant records indicate that before land grants were made, certain categories of villagers - perhaps those considered more important - were consulted by the higher officials. Although Brahmins are mentioned in the list of those consulted, there are equal references to other categories of villagers such as *kutumbins* and *mahattaras* who may have been village officials or important landholders in the village. {Vishwa Mohan Jha *(see ref. below)* describes the *kutumbins* and *mahattaras* as *varna/jati* nuetral categories (i.e. caste-independent categories) that included Brahmins and non-Brahmins alike.}

Other references point to consultative committees that included the chief artisan, the chief scribe, the merchant and the guild-president of the town. It also appears that administrative changes led to the creation of new posts, the merger or elimination of older posts, and changes in ranks of various officials over time. An examination of the land grant decrees over a space of three centuries (5th-7th C Bengal) points to such changes and others - such as changes in procedures, or changes in the constitution of consultative committees, perhaps to reflect changing political alliances or changes in the economic status of different groups of townspeople and villagers.

In a land allotment plate from Paschimbagh (Bengal) Brahmins are mentioned as tax payers, and the status of ordinary Brahmins does not seem at all exceptional. For instance, it points to a teacher or a Vedic scholar as being entitled to 10 *patakas* of land, but other Brahmins were entitled to only 2 *patakas* - a share less than that of a *Kayastha* (record-keeper) or *Vaidya* (medical practitioner). Carpenters, smiths and artisans were also put far above other service communities in terms of their share of land.

The Paschimbagh inscription also describes the grant of plots of land to florists, potters, carpenters, masons, blacksmiths and sweepers for serving a *matha (*monastery*)* indicating that when land was granted for a temple or monastery, priests were not the

exclusive beneficiaries of land grants. (Two Bhaumakara charters from Talcher/ Dhenkanal in Orissa similiarly refer to donations of land for a Buddhist temple, and allocations for its maintenance.)

A study of land grants from 12th C Rajasthan (Pali) and Karnataka (Kalikatti) suggests that land grants had a limited life tenure even when initially decreed to be for life or for perpetuity. Beneficiaries of land grants were subject to transfers, and grants to a particular beneficiary were transferred to another beneficiary five or ten years later. It also appears that the beneficiaries were selected based on administrative rank rather than any particular caste-affiliation.

It is also not at all apparent that administrative rank was limited by birth. In Orissa, there is explicit evidence to the contrary. Ordinary peasants were able to rise up in the ranks of the military, and it is likely that a similar situation prevailed in the administrative ranks. Mayadhar Mansinha (see ref. below) suggests that a combination of factors such as training, merit and personal determination played a role, (in addition to social standing and political connections) in determining rank and promotions. In Karnataka, there is evidence that some of the chief administrators were women.

References

1. Vishwa Mohan Jha: Settlement, Society and Polity in Early Medieval Rural India (Social Science Probings vol. 11/12)
2. T. K Venkatasubramaniam: Politics, Culture and 'Caste' in early Tamilkam (Social Science Probings vol. 11/12)
3. R. C. Dutt: A History of Civilization in Ancient India
4. Hetukar Jha, Social Structures of Indian Villages, A study of rural Bihar
5. Mayadhar Mansinha, History of Oriya Literature (Sahitya Akademi, New Delhi)
6. Bulletins of the Indian Historical Review (Indian Council of Historical Research)
7. Vinod Kumar: India as Al-beruni saw it
8. Madhu Kishwar: Manusmriti to Madhusmriti
9. Scott Levi: Hindus Beyond the Hindu Kush: Indians in the Central Asian Slave Trade, *Journal of the Royal Asiatic Society;* 'The Indian Merchant Diaspora in Early Modern Central Asia and Iran', *Iranian Studies* (32, 4)

9b. Chacha Na'ma, Futuh-I Bulda'n (Translations/ Excerpts from Arabic/Persian texts chronicling the invasion and conquest of Sindh)

9c. The destruction of forts and temples, massacres of defeated armies, looting of temple wealth and the taking of slaves is described in numerous Persian/Arabic chronicles of the Delhi Sultanate; for instance, see Taju-l Ma-asir and Tabakat-i-Nasiri.

10. Jyotsna Kamat: Social Life in Medieval Karnataka
11. Zarina Bhatty: "Social stratification among Muslims in India" - (from the book "Caste - its twentieth century avatar" by M N Srinivas, Viking, New Delhi, 1996, pp 249-253)
12. Sandra Mackey: The Caste/ Class system in Iran (from The Iranians - Persia, Islam and the Soul of a Nation), Dutton Books published by the Penguin Groups, New York, 1996 pp. 34-35
13. K. Damodaran: Indian Thought, A Critical Survey (Advent of Islam and Later Fe udalism)

❖❖❖

Trade and Commerce in Medieval India

Dr. Pawan Kumar

The available evidence suggest that the urban economy on the eve of the Ghorid conquest waq on a low ebb. The towns were fewer in number and smaller in size in the centuries preceding the establish'ment of the Delhi Sultanate. D.D.Kosambi shows that even the capital was a camp city on the move. The higher ruling class wandered from place to place along with the army while the lower ruling class was almost completely ruralized. This view of urban decline has been supported by R.S. Sharma who has cqnvincingly reasserted his theory of urban decay with the help of enormous archaeological data painstakingly collected.

This theory of decay of towns is further corroborated by the evidence of sluggish trade: The near complete disappearance of gold and silver currencies and the almost total absence of foreign coins in the Indian coin-hoards of the period are indicators that the foreign trade was at a very low scale. Moreover, the fact that not even the coins of various regional dynasties are found in the coin-hoards of other regions, suggests that inland commerce was not widespread. All this scenario changed almost immediately with the establishment of the Delhi Sultanate. The archaeological and numismatic evidence corroborate the literary evidence of growth of towns and increase in commerce.

Growth of Towns

Before discussing the evidence of increase in number and size of towns, we must first understand what we mean by town. There are two simple definitions of a town : (a) the usual modern definition of a settlement of 500 or above, and (b) a settlement where an overwhelming majority of population (say above 70%) is engaged in occupations other than agriculture.

Economy of Delhi Sultanate

While the archaeological evidence available for earlier period is not forthcoming from the 13th-14th centuries owing to the much less attention paid to medieval archaeology, the literary dvidences testify growth of urbari centres. Lahore was a big town but decayed after the Motlgol invasion in the 13th century. However, in the 14th century it flourished again. While not even a guesstimate of the population of any town is available in our sources there are reliable indications to assume that at least some of these were cities big enough by contemporary standards. Ibn Battuta, who visited Delhi in 1330,. deseribes it as of enormous extent and population, the largest city in the Islamic East in spite of the fact that Mohammad Tughluq had shifted much of its population to Daulatabad. He describes the latter too, as large enough to rival Delhi in size. Some new towns were established during the period, such as Jhain (Chhain) in Eastern Rajasthan that was named 'Shahr Nau' during Alauddin Khalji's reign (1296-1316).

Factors for Urban Expansion

Five strength of the invader, of course, lay in combination and not in dispersal in an unfamiliar land and, thus, in initial stages, it was but natural for the members of the ruling class to prefer to stay at their iqta headquarters along with their cavalry. These iqta headquarters having the concentration of cavalry, its hangers-on and the retinue and household of the rnuqti thus emerged in the early phase as camp cities.

Most of the 13th century towns are infact defined as iqta headquarters in our sources; for example, Hansi, Kara, Anhilwara, etc. These towns were to be fed and provided for. In the beginning, the troops had to go for realising khar & j/mal by plundering the surrounding villages; but gradually by the 14th century, as pointed out

Bishanpur, Katra, Muzaffarpur

by Moreland, cash nexus developed. The revenue was realised in cash from the peasants who were thus forced to sell their produce at the side of the field. The merchants catered to the needs of towns giving risk to what we will discuss below as-induced trade'. The ruling class coming from a different cultural milieu had needs of leisure and comforts of a different type; they wanted songs in Persian and dances of a different style, books, silk to wear and arcuate light architecture (not !he stone edifices). Out of the resources that were indeed enormous by contemporary standards at its command, the new rulers naturally. Wanted to get luxuries and comforts of their taste which encouraged immigration from Islamic culture area. These immigrants were not only soldiers, but craftsman, artisans, singers, musicians, dancers, poets, physicians, astrologers and servicemen as described by Isami.

Urban Manufactures

It seems that the urban craft production received a twofold impetus with the establishment of the Delhi sultanate. First, the Sultanate ruling class remained town-centred and spent the enormous resources it appropriated in the form of land revenue mainly in towns, either on buying services or procuring manufacturers. Even the money spent on the service sector partly went to help the urban craft sector through multiplier effect. While the nobility created demand for high-priced skill-intensive luxury items, its hangers-on in all likelihood created a mass market for ordinary artisanal product. The second factor that contributed to urban manufacturers was the introduction of a number of technological devices that reached India with the invaders. (You will learn, about them in detail in the next Unit). In the luxury sector, silk weaving expanded and carpet-weaving came from Persia. The other notable urban manufacture was paper making. Perhaps a major sector of urban employment was building industry. Barani says that Alauddin Khalji employed 7b,000 craftsmen for his buildings. One may well be justified in saying that there was considerably more masonary per acre of occupied space in the towns of 1400 than in those of 1200.

Organization of Production

It is indeed important to know how production was organized. Whether the town artisans carried out production under the 'domestic system', that is, they owned their tools, raw material and the end product and also sold their product themselves; in other words, whether they were self employed or while tools were their own and they worked at their homes, raw material was provided to them by the merchants, that is whether they worked under the 'putting-out system'. The contemporary sources shed little light on these aspects. One can, however, legitimately assume that since the tools of production even after the introduction of new devices were still simple and mainly of wood and little of iron should have remained cheap. The artisan wish thus master of his own tools, though varied forms of labour organization seem to be prevalent. Certain artisans hawked or hired out their services such as cotton-card & who with a bow-string on his shoulder, went door to door selling his services as is evident from the account given in Khair-ul Majalis. Spinning was done usually by women staying at their homes. The weavers too usually worked at their own looms at home weaving' cloth for sale, out of the yam bought or spun by the plosives. They also worked on wages to weave yarn supplied to them by customers. But if the raw material was expensive such as silk or gold of silver thread, etc. and the products were luxury items, the craftsmen were to work in karkhanas under supervision. We have definite information about the Sultans and high nobles maintaining these karkhanas where the production was to cater to their own needs and contrary to D.D.Kosambi's assumption was not for market. Shahabuddin al Umari records in his Masalik-ul Absar that in Mohammad Tughluq's karkhanas at Delhi, four thousand silk workers worked as embroiderers. According to Afif, Feroz Tughluq's karkhanas produced

cloth and carpets in a big way. While there is no suggestion in our sources, we may only conjecture that perhaps merchants also maintained karkhanas where production was for sale.

Trade and Commerce

We have seen that there emerged some considerably big flourishing towns as well as numerous townships during the 13-14th centuries. These towns naturally needed to be fed and supplied raw material for craft production.

At the same tinye, there was growing practice of lad revenue realization in cash. By the time of Alauddin Khalji, the cash-nexus came to be well developed and the-ruling class tended to claim almost the entire peasant suhlus by attempting to reduce the share of rural intermediaries, as we have seen in the previous Unit.

Both these factors were conducive to the development of inland trade. To pay the land revenue in cash, the peasantry was forced to sell its surplus produce while merchants had a market in newly emerged towns for agricultural products. This trade resulting from the compulsions of land revenue system is termed as 'induced trade'

References

Fisher, Michael Herbert : *Visions of Mughal India: An Anthology of European Travel Writing*, London: I. B. Tauris, 2007.

Frankel, Francine R.: *India's Political Economy, 1947-1977: The Gradual Revolution*, Delhi, 1978.

Ghosha, Aruna : *Agrarian Structure and Peasant Movements in Colonial and Post-Colonial India (An Annotated Bibliography)*, Calcutta: K.P.Bagchi and Company, 1990.

Gowdy, J., *Coevolution Economics: The Economy, Society and the Environment*, Kluwer, Boston, 1994.

Guha, Ranajit : *Elementary Aspects of Peasant Insurgency in Colonial India*, Delhi: Oxford University Press, 1983.

Harvey L. Molotoch: *Urban Fortunes: The Political Economy of Place*, Berkeley, University of California Press, 1987.

Jalan, Bimal: *The Indian Economy: Problems and Prospects*, New Delhi, Viking, 1992.

Jha, P.R.: *Agriculture and Economic Development*, New Delhi, Ashish, 1988.

Joshi, Vijay: *India: Macroeconomics and Political Economy, 1964-1991*, Washington, World Bank, 1994.

Keene, Manuel, and Salam Kaoukji : *Treasury of the World: Jewelled Arts of India in the Age of the Mughals,* London, 2001.

Kishore, K.: *Economic History of Mughal India: An Annotated Bibliography, 1526-1875*, Calcutta, Santiniketan, 1991.

Lal, Ruby : *Domesticity and Power in the Early Mughal World*, Cambridge: Cambridge University Press, 2005.

LaRocque, Brendan P. : *"Trade, State, and Religion in Early Modern India: Devotionalism and the Market Economy in the Mughal Empire,"* University of Wisconsin-Madison, 2004.

Little, I.M.D.: *India: Macroeconomics and Political Economy, 1964-1991*, Washington, World Bank, 1994.

Losensky, Paul E. : *Welcoming Fighani: Imitation and Poetic Individuality in the Safavid-Mughal Ghazal*, Costa Mesa, Calif.: Mazda, 1998.

Magnussen, L., *Evolutionary and Neo-Schumpeterian Approaches to Economics*, Kluwer, Boston, 1994.

Majid Hayat : *Agrarian Unrest in North India: The United Provinces, 1918-1922*, New Delhi: Manohar and Vikas Publishing House, 1978.

❖❖❖

Indian Resistance Movements in the Early Nineteenth Century

Rakesh Kumar Jha

After the final defeat of the Marathas in 1818, the authority of the East India Company in the newly ceded and conquered territories in central and northern India was challenged on many fronts. Dacoity, or banditry was endemic, of which the so-called thugs were the most notorious example. The word 'thug' is of Indian origin, *thagi* meaning 'to deceive'. Although terms like it could be found in generic use in previous periods, 'thag' was first used as a specific category by a British district officer named William Sleeman, in application to a variety of groups of marauding bandits in central India in the 1820s. The suppression of the thugs thereafter became part of the great civilising mission of the British in India, along with the abolition of sati, infanticide, human sacrifice and other supposed social evils. Work on these fronts was faithfully reported to the Board of Control in London and the annual *Statement Exhibiting on Moral and Material Progress and Condition of India* from 1859 onwards.

The thug phenomenon was paralleled by another and more serious law and order problem in the early nineteenth century, which was similar in causation: the Pindaris. They were bandits who raided whole villages on horseback, principally in the newly ceded territories in central and northern India [Anon 1818; Ghosh 1966]. The Pindaris were mostly unemployed mercenary cavalrymen who had served in the armies of the Maratha Princes and others, before being disbanded in 1818. The threat that they posed was so considerable that an entire sepoy army had to be sent to suppress them.

The thugs and the Pindaris occupied a great deal of British military manpower, but there were numerous other uprisings in the same period to occupy them, many in adivasi or tribal areas. For example in the 1820s, a succession of revolts occurred amongst the Bhil tribes in Gujarat, and the Kol in Bihar between 1829 and 1833. Most serious of all was a revolt by the Santhals in 1855, just two years before the uprising of 1857, following which more than 10,000 tribals were killed in British reprisals in an attempt to pacify the territory [Guha 1983]. Nomadic and 'wandering' communities had good cause to resent the British, by whom they had been systematically persecuted. In the early 19th century huge areas of grazing lands around Delhi, used by the Gujars, Rangars and Bhattis were cleared and given by the British to Jat peasant farmers to cultivate. These communities were therefore amongst the first to resort to arson and banditry as soon as British control collapsed in 1857. They all had one thing in common, being in one way or another losers in the land revenue settlements of the early nineteenth century. The Gujars and Bhattis lost land because the British did not recognise pastoralists to have proprietary right of access or occupancy. Tribals, who practised shifting forms of cultivation, were also frequently denied rights to the land and expelled from large areas of forest which were taken over by the government. It can be conjectured that many so-called thugs may have been Gond adivasis from the highlands of Central India who had been forced out of the forests in which they had traditionally hunted and foraged. From a life of banditry and petty thieving, it was but a small step to join in open rebellion.

The thugs and the Pindaris occupied a great deal of British military manpower, but there were numerous other uprisings in the same period to occupy them, many in adivasi or tribal areas. For example in the 1820s, a succession of revolts occurred amongst the Bhil tribes in Gujarat, and the Kol in Bihar between 1829 and 1833. Most serious of all was a revolt by the Santhals in 1855, just two years before the uprising of 1857, following which more than 10,000 tribals were killed in British reprisals in an attempt to pacify

NET Qualified

the territory [Guha 1983]. Nomadic and 'wandering' communities had good cause to resent the British, by whom they had been systematically persecuted. In the early 19th century huge areas of grazing lands around Delhi, used by the Gujars, Rangars and Bhattis were cleared and given by the British to Jat peasant farmers to cultivate. These communities were therefore amongst the first to resort to arson and banditry as soon as British control collapsed in 1857. They all had one thing in common, being in one way or another losers in the land revenue settlements of the early nineteenth century. The Gujars and Bhattis lost land because the British did not recognise pastoralists to have proprietary right of access or occupancy. Tribals, who practised shifting forms of cultivation, were also frequently denied rights to the land and expelled from large areas of forest which were taken over by the government. It can be conjectured that many so-called thugs may have been Gond adivasis from the highlands of Central India who had been forced out of the forests in which they had traditionally hunted and foraged. From a life of banditry and petty thieving, it was but a small step to join in open rebellion.

Uprisings of more substantial rural elites as well as of peasants occurred in the first half of the nineteenth century. The Bundela Rajputs, for example, were relatively prosperous landowners in Central India who rebelled in 1842, in reaction to tax increases and oppressive court proceedings which had deprived some of them of land. The mere arrival of a British land survey team, whose task was to measure the fields and decide how much tax should be paid, could provoke a riot, as occurred in Khandesh in 1852. The were also violent outbreaks among the peasantry on the Malabar Coast, where Muslim Mappila tenants were almost continuously in revolt against Hindu landlords appointed by the British.

Finally, in urban areas, unrest was often communal, characterised by the rioting of unemployed Muslim artisans against the Hindu moneylenders who were prospering under colonial rule. The replacement of the law officers of the old Mughal cities (such as the Kotwal, Qazi, and Mufti) by brusque colonial officials added further to the prevailing sense of unease. Dissent and unrest were therefore widespread during the early part of the nineteenth century, but the inadequate intelligence of the East India Company meant that the seriousness of this opposition was not appreciated until events overtook them. When the general insurrection occurred in 1857, the company was therefore taken completely by surprise. The sudden collapse of British power merely provided the opportunity for many of these dissenting groups to rise up at the same time. This was what was unique about 1857.

Rethinking Tribals

Ever since the Portuguese travel writers and missionaries decided to describe the vast variety of ethnic and occupational groups and sects of the Indian subcontinent in terms of "caste" and "tribe", the terms have stuck to society as long-worn masks that start becoming one's real personality. The result is that today no Indian describes society without taking recourse to the categories "caste" and "tribe". In the initial period of India's contact with western nations the two terms were used as synonyms, the difference lay only in the social status of the groups they described. The synonymy was finally shattered through a legal intervention by the colonial rulers when an official list of communities was prepared by them (in 1872) as the list of tribes. A similar list was prepared in the previous year for communities that were mistakenly thought of as 'criminal' and were covered by the provisions of an inhuman "Criminal Tribes Act of India, 1871." Since then the "tribes" are perceived as a distinct segment of Society. In fact, it is necessary to recognise that every community has certain "caste" characteristics and certain other "tribal" characteristics, the degree of which may differ from community to community.

History has indeed been extremely unkind to the tribal characteristics of the people. The entire burden of the logic and the rhetoric of modernisation has sought to "detribalise" the vast range of communities. Besides, those communities that are now marked as "tribal" have not been viewed with any degree of respect by the alienated middle classes and intellectuals. None of the brave fights of the tribals against the British has ever been treated as part of the "national" struggle for freedom. From the Bihar uprising of 1778 to Lakshman Naik's revolt in Orissa in 1942,

the tribals of India repeatedly rebelled against the British in the North-East, Bengal, Bihar, Madhya Pradesh, Maharashtra, Gujarat and Andhra Pradesh. In many of the rebellions, the tribals could not be subdued by the colonial might, but terminated the struggle only because the British acceded to their immediate demands, as in the case of the Bhil revolt of 1809 and the Naik revolt of 1838 in Gujarat. The fact, however, is that there is so much in the tribal way of life that the country needs to emulate. Tribals are not known for raping their women, beating and abusing their children, exploiting nature beyond satisfying the minimum human needs, lending money at interest, burning widows, and above all things segregating and stratifying labour in terms of caste.

A century and a half of deeply flawed education which has taught us to ape the West in every respect, has also taught us to leave the tribals out as the apes of the great Indian society. And, all that we have so far doled out in the name of tribal policy is but an attempt at extermination of tribal identity so that they remain without a voice and make space for our progress, become our low-grade clones and provide us with cheap labour. In the process, we have forgotten that much that is valuable in society, culture and heritage is of tribal origin, that in fact the tribal still has so much with him which we stand to benefit by learning.

Rarely have we looked at the tribal communities as leaders, at least in certain areas of life, who can reveal to us what civilisation truly is all about. Hence at the turn of the century we must open this question again and work towards formulating a comprehensive tribal policy which will help both the nation and the tribal people. The four principles that we must follow while conceiving such a policy ought to be related to the recognition of the diversity of tribal communities, their special educational needs, an utmost concern for their genetic mutations, and the recognition of the peculiar character of tribal polity. It is necessary to recognise that all tribal communities are not alike, that they are products of different historical and social conditions and that they belong to four different language families and several different racial stocks and animistic moulds. Some of them belong to the primitive stock with a continuous cultural history, others have been pushed out of the mainstream and have been "drop-outs" of our main history, yet others are created by various legal and economic interventions in society.

Therefore, no uniform policy is ever likely to benefit all tribal communities throughout the country. Next, if the huge work-force has to be given special skills which will improve their economic status, the existing formalities for educational advancement will have to be suspended, and a new kind of non-formal educational structure will have to be evolved. Thus special tribal academies which combine the merits of regular schools and the open universities will have to be instituted. A National Tribal Academy, to regulate the education network will have to be created for this purpose. Similarly, those tribal communities which have become victims of the mutated gene diseases, such as the Korkus and the Bhils, will have to be provided with a special kind of health monitoring system so that the country does not quietly write off these as communities with defective genes. A close attention will have to be paid by social medicine research to the incidence of sickle cell disease.

References

Mishra, G.: *'The Socio-economic Background of Gandhi's Champaran Movement', Indian Economic and Social History Review*, New Delhi, 1968.

Nuh, V. K: *Struggle for Identity in North-east India: A Theological response,* Guwahati: New Delhi: Spectrum Publications, 2001.

Pandey, Gyanendra: "*Peasant Revolt and Indian Nationalism: The Peasant Movement in Awadh, 1919-1922*." Delhi: Oxford University Press, 1982

Pradip Kumar: *Social Mobility and Caste Violence: A Study of the Gujarat Riots*, Delhi, Adjanta Publications, 1985.

Ray, Ratnalekha : *Change in Bengal Agrarian Society, c. 1760- 1850*, New Delhi: Manohar, 1979.

Sarkar, Sumit : *Modern India: 1885-1947*, Madras: Macmillan, 1983.

Sarkar, Tanika : *Hindu Wife, Hindu Nation: Community, Religion and Cultural Nationalism*, Delhi: Permanent Black, 2001.

❖❖❖

Rammohan Roy and the Advent of Constitutional Liberalism in India

Ranjeet Kumar

This paper seeks to situate the dramatic emergence of modern Indian liberal thought during the 1810s and 1820s in a wider Asian, European and American context, further developing the notion of a global or trans-national sphere of intellectual history. From the perspective of British and British imperial history, the paper contributes to the story of how provincial and overseas interests came together to construct an ideological challenge to the "despotism" of the Court of Directors of the East India Company. British radicals and the still small group of English-educated Indian public men gathered in Bombay and Calcutta viewed the Company as the epitome of metropolitan Toryism and a classic form of the "old corruption". The concern of the paper is not to insert the Indian political ideas of this period into broad, predetermined teleological categories such as "old patriotism", colonial modernity, nationalist modernity, multiple modernity and so on as historians of India have been inclined to do. Rather, it is to consider the political ideas in their own terms and in their own period, neither lauding a culturally authentic Indian renaissance nor simply treating the debates of these years as derivative ofWestern intelletual prowess.

Some contemporary theorists view liberalism as a general doctrine of absences: liberty from political, religious or intellectual oppression, but with little positive commitment to civic virtue. The early Indian and expatriate British liberals discussed here emerged out of a specific intellectual context. They feared the tyrannical features of the French Revolution as much as those of the returning monarchical despotisms of 1815. Yet, though cautious, their liberalism was constructive. They were advocates of "mixed" constitutional government, republican in spirit, but leaving space for popular monarchies. They assigned a critical role to a free press and local forms of representation. They wished to build "a public" in India. But they were often conservative or, rather, Whiggish in their attitude to property, believing that large landed proprietors stabilized society, unlike their more radical successors of a few years later.

I begin with a description of a striking event that took place in Calcutta in August 1822 on the banks of the River Hughly and later in the Calcutta Town Hall. This was a celebration of the second anniversary of the proclamation of constitutional government in Portugal. It was recorded by two Calcutta newspapers, the *Bengal Hurkaru* (the word means "messenger"), a free-trading liberal newspaper, and the *Calcutta Journal*. The *Journal* was India's first daily newspaper, a radical publication edited by the later parliamentary reformer James Silk Buckingham, who was soon to be arrested and transported back to Britain by the Company's government. According to the *Journal* the huge crowd at the river included "the children of Lusitania" along with "those of Britain and India", government officials, ecclesiastics of the Roman church and other creeds wearing, unusually, the cockade symbol of liberty. Along with them stood "the enlightened Brahmin whose name is never mentioned without praise". This was Rammohan Roy, the main focus of the essay, and someone who is rightly regarded as India's first consciouslymodern political thinker. The *Calcutta Journal* demanded rhetorically, "who shall henceforth dare to say that Public Opinion is not favourable to the spread of liberal sentiments in India?"

The other main liberal publication, the *Hurkaru*, carried a long report on the subsequent dinner. "European Portuguese from Lisbon and the Brazils" hosted the dinner. But many local Portuguese and Eurasian Portuguese from

NET Qualified

Calcutta and the Bengal countryside attended as their guests. According to Messrs Pires and de Silva, Portugal had finally been delivered from the "thraldom of priest craft and the fetters of despotism". The Spanish nation had been the first to raise the standard of liberty in 1812, but soon, it was said, "the cause of liberty will be as famous and triumphant as in the days of Cato and Brutus". The speeches at the dinner illustrated the range of international constitutional liberalism at this particular moment. The breadth of Iberian liberal connections across the world was also highlighted by a solemn act of remembrance of a Portuguese patriot in Goa who had been assassinated on the orders of the reactionary Portuguese monarchy, then installed in Rio de Janeiro. India indeed had direct experience of European revolutions. A series of liberal coups and monarchical counter-coups was taking place in what are now the major holiday venues of western India. Liberals in Goa, mainly creoles, who claimed descent from the earliest settlers (*luso descendentes*) had recently issued an official newspaper invoking Rousseau and stating that the "general wish" of the Portuguese people was invested in the Cortes which had ordained political change for the colony.

Speakers at the Calcutta dinner took up related struggles for liberty. There were toasts to "the Marquess of Hastings [the outgoing Governor General] and the Liberty of the Indian press" and "les lib´erales of France". Later speeches lauded Jeremy Bentham, the Carbonari and the reformof the British parliament. Mr. Patrick, an Irishman, raised his glass to Colonel James Young, the radical head of the agency house Alexander and Co., who was soon to return to Britain. A friend of Rammohan, Young later worked closely with Jeremy Bentham and Daniel O'Connell for the reform of Parliament and the Company's monopoly. Finally, "Ypsilanti and the Greeks" were remembered. Alexander Ypsilanti, a former Tsarist officer, had just invaded OttomanMoldavia. TheGreek merchants of the Indian cities awaited the liberation of their country. Greece was also on the mind of Young Bengal. In the Hindu College, Calcutta, the young Eurasian poet and democrat Henry Derozio wrote on the heroic struggles of the Greeks through the ages and the equal greatness of ancient India. The distant connection between Greece and India was soon to be demonstrated anew in the career of Leicester Stanhope, a follower of Bentham, who agitated for the freedom of the Indian press and went on to found patriotic newspapers across Greece.

This surge of support for awide range of constitutional liberal reforms in India, Britain, Iberia, Greece and Latin America explains why Bishop Reginald Heber described the small Bengali intelligentsia as "advancedWhigs" when he came to India a few years later. Overwhelmed by the return of reactionary governments throughout the world after 1815, liberals and radicals depicted despotisms, from the Bourbons to the Ottomans and the Tsars, as an international unholy alliance against the people. The directors of the East India Company were a willing component of this junta according to British and other European liberals and free-traders in the East. They deplored the Company's monopoly, high taxation and constant frontier wars. Any successful rebellion against autocracy across the world was therefore a cause for rejoicing in Calcutta. The Portuguese celebration was not unique. Rammohan Roy himself hosted several celebrations in Calcutta Town Hall for the Spanish, Portuguese and Latin American revolutions between 1820 and 1823. At a less heady time, on the fall of Neapolitan republic in 1821, Rammohan was so distressed that he was unable to visit his British radical friend, Buckingham. India's dawning interest in European concepts of freedom and constitutional government was reciprocated. When Spanish reformers reissued the original 1812 Cadiz constitution, it was dedicated as follows: "Al liberalismo del noble, sabio, y virtuoso Brahma Ram-Mohan Roy". The Swiss political economist J. de Sismondi, writing later in the Paris *Revue encyclop´edique*, remarked that reports of Rammohan's presence at events such as this clearly disproved the stereotype, purveyed by British colonialists, that India was doomed to social stagnation by caste prejudices against socialmixing. What we see in this liberal constitutionalist moment, then, was the emergence of a small international public sphere— including Indians— that was unified not so much by coherent intellectual influence, but by political affect. This

global imagining of constitutional liberty was made possible by the great expansion of the press and the idea of association at world level since the 1780s. Political theorists now fashioned their arguments against the background of displays of ritual emotion that purported to represent the people.

This essay seeks to provide a trans-national context for the political ideas of Rammohan and other early Indian liberals. Roy became an iconic figure to Indians and Britons very early on. Born into a Brahmin Mughal service family, he moved through an early phase of personal religious enquiry and become closely associated with a number of British scholar officials and Unitarian ministers in Bengal. He learnt several European languages and, by 1815, had become spokesman for a religious tendency in Hinduism that rejected;

"idol worship" and asserted that true Hinduism was monotheistic and little concerned with issues of caste. He founded the Atmiya Sabha (Friendly Society) and later the Brahmo Samaj (Society for the Supreme Being). His opposition to the burning of widows on their husbands' funeral pyres, *sati*, a relatively uncommon but ideologically charged practice, earned him the enmity of the neo-orthodox in Bengal. His insistence that modern Hinduism was a corrupt form of a pure and monotheistic ancient religion caused his mother to disown him and his relations to try to disinherit him. But the crusade against corrupt practices, especially widow-burning, led him to publish numerous pamphlets in English, Bengali and Sanskrit and to found the subcontinent's earliest Indian-run newspapers.

In turn, what Rammohan and his British liberal friends took to be a reactionary and "Tory" turn in Indian government after the departure of Lord Hastings in 1818 drew him into sustained political comment on the policies of the East India Company and the British government, including its foreign policy in relation to Iberia, France and Greece. Indo-Islamic India had long had its moralists and its public critiques of authority, but the international range of Rammohan's imagined political community made him, in effect, India's first indigenous "public man". He argued for restricted European colonization of India and for free trade to end the East India Company's monopoly. He went to Europe in 1832, visiting England at the time of the Reform bills and France after the revolution of 1830. He died in Bristol in 1833 when he was contemplating taking ship for the United States, at the behest of his Bostonian Unitarian friends.

Rammohan's reading of European debates about constitutional government informed his construction of India's past and its future. In 1822, at the height of the liberal euphoria over the Spanish and Portuguese revolutions, he published "Modern Encroachments on the Ancient Rights of Females According to the Hindu Law of Inheritance". This tract aimed to show that it was the corrupt and defective understanding of Bengal's Dayabhaga laws of inheritance that resulted in the practice of widow-burning, the abolition of which had become his major public project. Fully Benthamite in the sense that it argued that bad laws make a bad society, Rammohan's interpretation was much more historicist and concerned with education than were the later utilitarians' harder positions. He wished to explain that India had once had a constitution and it was the decline of this constitution and its checks and balances that had sunk India into backwardness. Yet, equally, he implied that if the Indianmind had oncemanaged to conceive the notion of constitutional balance and the separation of powers, it would one day do so again.

References

Majumdar, R. C.: *History of the Freedom Movement in India*, Calcutta, 1963.

Nag, Jamuna: *Raja Rammohun Roy*. New Delhi, 1972.

Nagendranath Chattopadhyaya: *Mahatma Raja Rammohan Rayer Jiban Charit,* Calcutta, 1881.

Niharranjan Ray: *Rammohun Roy: A Bi-Centenary Tribute,* New Delhi, 1974.

Noorani, A.G. : *Indian Political Trials : 1775-1947*, New Delhi, Oxford University Press, 2005.

Parmaji, S.: *Caste Reservations and Performance*, Mamata Publications, Warangal, 1985.

Silverberg, James: *Social Mobility in the Caste System in India*, Mouton Publishers, The Hague, 1968.

Sivnath Sastri: *History of the Brahmo Samaj,* Calcutta, 1911.

V. C. Joshi: *Rammohun Roy and the Process of Modernization in India*, Delhi, 1975.

❖❖❖

Economy in Sangam Age

Dr. Shweta

The economy of the ancient Tamil country (Sangam era: 200 BCE – 200 CE) describes the ancient economy of a region in southern India that covers the present-day stateTamil Nadu. The main economic activities were agriculture, weaving, pearl fishery, manufacturing and construction. Paddy was the most important crop; it was the staple cereal and served as a medium of exchange for inland trade. Pepper, millets, grams and sugarcane were other commonly grown crops. Madurai and Urayur were important centers for the textile industry; Korkai was the centre of the pearl trade. Industrial activity flourished. Inland trading was conducted primarily through barter in busy market places by merchant associations and commercial lending institutions. Merchants formed associations that operated autonomously, without interference from the state.

The people of ancient Tamil country engaged in brisk overseas trade with Rome; the trade reached a peak after the discovery of a direct route for merchant ships between Tamilakam and Egypt,, taking advantage of the monsoon winds. Pepper, pearls, ivory, textiles and gold ornaments were exported from Tamilakam, and the main imports were luxury goods such as glass, coral, wine and topaz. Foreign trade brought in a large amount of internationally convertible Roman currency. The state played an important role in building and maintaining infrastructure such as roads and ports—funded through taxation—to meet the needs of economic and social activity. Wealth was unequally divided among the people, giving rise to distinct economic classes.

Agriculture

During the Sangam age, 200 BCE-200 CE, agriculture was the main vocation of the Tamils. It was considered a necessity for life, and hence was treated as the foremost among all occupations. The farmers or the *Ulavar* were placed right at the top of the social classification. As they were the producers of food grains, they lived with self respect. Agriculture during the early stages of Sangam period was primitive, but it progressively got more efficient with improvements in irrigation, ploughing, manuring, storage and distribution. The ancient Tamils were aware of the different varieties of soil, the kinds of crops that can be grown on them and the various irrigation schemes suitable for a given region.

Land Classification

Among the five geographical divisions of the Tamil country in Sangam literature, the Marutam region was the most fit for cultivation, as it had the most fertile lands. The prosperity of a farmer depended on getting the necessary sunlight, seasonal rains and the fertiliy of the soil. Among these elements of nature, sunlight was considered indispensable by the ancient Tamils, because if rains fail other methods of irrigation could be put to use and if the soil wasn't naturally fertile, artificial manuring would enrich the soil. They differentiated the lands on the basis of fertiliy and accordingly cultivated the crops that were best suited for the kind of soil.

They were *Vanpulam* (hardland), *Menpulam* (fertile land), *Pinpulam* (dry land) and *Kalarnilam* or *Uvarnilam* (salty land). *Vanpulam* in Mullai and Kurinji regions did not yield rich produce, whereas in *Menpulam* the yield was very good. Dry crops were cultivated on *Pinpulam*, because of the limited irrigation facilities. The *Kalarnilam* was unfit for cultivation. Some of the types of soil known to the people of this age were the alluvial soil, red soil, black soil, laterite soil and sandy soil and they knew what crops could be grown on each type of soil.

Land Ownership

The king owned a lot of land, but was not the sole landlord, as he had donated lands to poets, brahmins, schools, hospitals and temples. The bulk of the agriculturists were cultivators of their own plots of land. They were the tillers of the soil and were known by different names-*Ulutunbar*

Principal, Sanjay Gandhi Mahila College, Patna

or *Yerinvalnar*, because they subsisted through the end of the plough, *Vellalar* because they were considered proprietors of water and *Karalar* or *Kalamar* which meant ruler of the clouds. Women cultivators were called *Ulathiar*. Among the *Vellalars*, the higher class people subsisted on the produce from the lands they owned whereas the lower class people had to work on the lands to earn their livelihood. The higher class *Vellalars*, besides holding the land, held high offices under the king, discharing civil and military duties, and assumed titles of *Vel*, *Arasu*, *Kavidi* and had matrimonial alliances with the royal family.

Apart from the traditional landlords and cultivators, there were absentee landlords too. There are various instances in which the kings donated tax-free lands to poets, brahmins, educational institutions and hospitals. Lands given to brahmins was known *Brahmateya*. When lands were gifted to brahmins and poets, these donees quite often left the donated lands in the hands of tenants or farm laborers. The terms of tenancy in respect of such cultivation are not known. Sometimes independent laborers were engaged for specific purposes and were known as *Adiyor*. Regardless of the nature of ownership, ranging from great landlords who owned vast stretches of land to an ordinary cultivator who owned a tiny piece of land, there was a feeling of pride in the fact that they were the producers of food. Land, the immobile property, and its produce were both taxable, as the king was owed a share for being the administrator of the land. Landlords and Peasants paid the tax-the land tax was known as *Irai* or *Karai* and the tax on produce was called *Vari*. It is believed that one-sixth of the produce was collected as tax. During times of floods and famines, cultivation was much affected and the kings were known to be kind enough to make remissions.

Taxes were collected by revenue officials known as *Variya* and *Kavidi* and they were assisted by accountants called *Ayakanakkar*. There were graneries, known as *Kalanjiyam*, in public places as well as in the houses of the farmers to store excess grain so that people did not suffer in times of floods or famines. The *Manram* (council) of the village took necessary decisions to safeguard the interests of the people.

For surveys and taxation purposes, various measurements were used to measure the land and its produce. The small land was known as *Ma* and bigger one as *Veli*. One *Veli* was equal to a hundred *Kuli*. The produce was measured using cubic-measures such as *Tuni*, *Nali*, *Cher* and *Kalam* and weight-measures such as *Tulam* and *Kalanju*. Common vessels used for measuring grains were *Ambanam*, *Nazhi* and *Padakku*, which was equivalent to two *Marakkal*s. The cubic measurements were of the shape of a wine cask with a broader waist and slightly narrow bottom and top. They were tightened and fixed by metallic bands. A balance known as *Tulakkol* was also in vogue.

Produce

The ancient Tamils cultivated a wide range of crops such as rice, sugarcane, millets, pepper, various grams, coconuts, beans, cotton, plantain, tamarind and sandalwood. Paddy was the main crop and different varieties of paddy such as *Vennel*, *Sennel*, *Pudunel*, *Aivananel* and *Torai* were grown in the wet land of Marutam. *Sennel* and *pudunel* were the more refined varieties. In a very fertile land, a *Veli* of land yielded 1000 *Kalam* of paddy. The peasants lived under the shady groves beyond the Marutam land. Each house had jack, coconut, palm, areca and plantain trees. Turmeric plants were grown in front of the houses and flower gardens were laid in between the houses.

The Mullai people undertook the cultivation of fruit trees and crops for cattle. The sugarcane producers even employed mechanical contrivances to extract juices from it. In some plots, rotation of crops was followed-cotton and millets were grown simultaneously on a plot and after that, beans were cultivated on the same land. There, generally, was surplus from the produce. Each village was almost self sufficient and if necessary people bought additional commodities from neighbouring villages. Such trade happened under the barter system, with paddy and salt being used as the medium of buying and selling.

The agricultural surplus produced by the villages is one of the reasons for the growth of urban centers in ancient Tamilakam. According to Dr. Venkata Subramanian, "*Towns can emerge precisely at the moment when the agriculturists start producing a surplus that can sustain basically 'Non-productive urban residents'*". The king also

depended on this surplus, since the soldiers and workers were paid in kind, i.e. grains. These factors ensured adequate demand for the produce, which in turn accelerated cultivation.

Techniques and Tools

The Tamil people practiced a very systematic method of cultivation during the Sangam age. It was known that ploughing, manuring, weeding, irrigation and crop protection need to be followed in a proper way for the yield to be rich. Tiruvalluvar, in his *Tirukkural*, emphasizes the need for all of these steps to be undertaken in a careful manner in order to get a good yield.

A paddy field was also known as *Kalam* and was ploughed with the help of oxen. Ploughed lands were leveled by the peasants using their feet, followed by the planting of the paddy seeds. Once the seeds grew into saplings, they were transplanted and when the crop was mature, it was harvested. Weeds were removed periodically. Paddy was removed from the harvested stalks by beating on the ground or by getting bullocks to tread on them.

Cleared paddy was collected, measured and stored in proper containers. Millets were grown on the *Pinpulam* or the dry lands and in the Kurinji region. Crop rotation was followed – for instance, cotton and millets were grown simultaneously on the same plot and after that, beans were cultivated on it.

A wide range of tools needed for agriculture, from ploughing to harvesting, were manufactured. The basic tool was a plough also known as *meli*, *nanchil* and *kalappai*. It consists of a wooden plank to tie the oxen and an iron bar attached to the plank, that tilled the land. This tool helped to bring the low-lying soil to the upper layer and send the top layer to the bottom, thereby aerating the land. For digging earth, a spade with wooden handle and a sharp terminal was used. A wooden leveler known as *palli* or *maram* was used to level the ploughed land. *Palliyadutal* refers to the process of removing weeds by means of a toothed implement attached to a plank and drawn by oxen. Farmers used a bullock-propelled contrivance called *Kapilai* for bailing out water from deep wells and a manual setup called *Erram*, for shallow wells. Water bales were also known as *ampi* and *kilar*. Protecting the standing crops from stray animals and birds was an important activity and was carried out by young girls and lower-class peasants.

While the young girls used rattles to scare birds away, the *Kuravan* and *Kurathi* used a stone-sling device called *Kavan* to drive away elephants and birds. It is said that an accurate shot from the sling could even kill an animal. Bugles and burning torches were other mechanisms used to keep wild animals away from the fields. Sickles were used for harvesting fully grown paddy and reaping the ripe ears of corn. The paddy grain was separated by thrashing the sheaths on the ground. Ears of millets were stamped on by farm workers and that of black gram were beaten by a stick.

References

Allan, John: *Catalogue of the Coins of Ancient India*, London, 1967.

Birendra Kumar: *Early Chalukyas of Vatapi, circa A.D. 500 to 757*, Delhi, Eastern Book Linkers, 1991.

David F. : *Emptiness Appraised: A Critical Study of Nagarjuna's Philosophy,* New York: Routledge Curzon, 1999.

Ernst, W. and B. Pati : *India's Princely States: People, Princes and Colonialism,* London, 2007.

Franklin Edgerton : *Buddhist Hybrid Sanskrit Grammar & Dictionary*, South Asia books Delhi, 1998.

Goyal, S. R. : *Kautilya and Megasthenes,* Kusumanjali Praksshan, Meerut, 1985.

Huntington, Susan : *The Art of Ancient India: Buddhist, Hindu, Jain*, Boston: Weatherhill, 1985.

Jaini, P S : *Gender & Salvation: Jaina Debates on the Spiritual Liberation of Women,* University of California Press, 1991.

Jin Park : *Buddhisms and Deconstructions,* Rowman & Littlefield Publishers, 2006.

Kailash Chand : *Lord Mahavira and His Times*, Delhi, 1974.

Kangle, R. P. : *The Kautiliya Arthasastra : Part H-An English Translation With Criticial and Explanatory Notes*, Motilal Banarsidass Publishers Pvte Ltd, Delhi, 1972.

Koenraad, E.: *Update on the Aryan Invasion Debate,* New Delhi, Aditya Prakashan, 1999.

Veracity of 1857- Mutiny or First War of Independence

Soni Bhagat

These days when all over India the 150th anniversary of 1957 Revolution is being celebrated with enthusiasm and sprit, the dispute over the nature of the Revolution is also in full swing. The British writers on the one hand called it is 'Sepoy Mutiny' and on the other hand they branded it as Hindu-Muslim conspiracy. If John lawrence, seeley considered it out and out a mutiny, Mr. K. recognised it as a Feudal Retaliation. James Outrum and Jailor call it a Hindu-Muslim conspiracy against the British Rule but L.R. Ridge goes on to consider it to be a religious war against the Christian Religion, Mr. T.R. Holmes this should be taken as a conflict between civilization and barbarism. This is a clear proof that the British historians were not impartial while analysing the causes and finding out the nature of the 1857 Revolution rather they studied the Revolution from the government's angle of vision. Naturally they deliberately overlooked the direct involvement of the People.

Sir Syed Ahmad Khan was the first Indian who put forward his outlook in respect of the occurrence of 1857. Therefore it is necessary to see what was the attitude of Sir Syed to this great event in the history of India : This is an open secret that Sir Syed whole heartedly supported the British Rule during the 1857 movement. But this was simply a politically motivated move of a seasoned politician who wanted to win the sympathy of the English people for the Muslims in India. Like a diplomat he thought it was not easy task to make an end to the British rule in India and besides there was no such powerful political force in India that could keep the country under control. So he openly spoke in favour of the British Govt. and for that he was offered a substantial amount as gratification. But for some reason or other Sr. Syed humbly refused to accept it. Mr. K. Damodaran; says that Sr. Syed was playing double game. On one hand he was trying to persuade the Muslims not to go against the English. On the other hand he was requesting the British Govt. to be more liberal and considerate in her policy. Like a far sighte politician Sr. Syed was trying to save the Muslim community from being branded as anti government and also win the favour of the govt. and Paving the path of Muslim-British Pact : In order to reach his goal Sir. Syed wrote a book in Urdu. "The causes of Indian Revolt" which was latter on translated by Colvin and Graham. He wrote in his book the root causes of the Indian Revolt was that the Indian had been completely deprived of the legislative powers and that has no way left to ventilate their feelings and grievances. Very naturally there was a big communication gap between the people and the government. Therefore a time came when people were forced by circumstances to consider the government a slow poison, a rope of sand and a treacherous flame of fire.[2] In his book Sr. Syed also requested the government to grant people freedom for expression. The chief cause of the revolution according to Sr. Syed are as follows.[3]

1. The government passed such rules which went against the wishes and aspirations of the people, some of which were definitely objectionable.
2. The government had no knowledge of the condition in which people were actually passing their days.
3. The government ignored all those factors which are necessary to a good government and
4. A deplorable mismanagement in the army.

In his book Sr. Syed emphasised upon the friendly relationship between the government

Research Scholar, Department of History, T.M.B.U., Bhagalpur

and the people for a smooth running of the Administration. He quoted St. Paul and also Christ who preached love and fraternity.

After that B.D. Savarkar in the year 1909 expressed his view regarding this revolution and regarded as the 'first struggle for Indian Independence'. But his aim was not to comment upon movement rather to arouse the patriotic feeling among the Indian people.[4]

After Independence much time and energy has been spent on research and new important facts have come to light. In this context Mr. S.N. Sen does not accept it as a struggle for freedom even then in his opinion it was not simply a sepoy mutiny. It was not limited only to the soldiers who revolted against a management, rather it was a people's revolt. In Awadh people revolted and fought in the favour of the king and the kingdom. Mr. Sen admits in spite of this revolt people of Awadh did not know anything about the National or Individual freedom.[5] Dr. R.C. Majumdar said that it was not a National movement and it had different shapes and nature in different parts of the Country.[6] But S.B. Chaudhari says that this revolution was both military as well as civilian. It was not only a peasants and landlords rebellion but the general public actively participated in it whole heartedly. The chief aim was to save the custom, tradition and the culture of the Country.[7] Mr. P.C. Joshi tried to search out the nature of the revolution in the economic reasons.[8]

Dr. Tarachand supported the view point that the rebellion was mediaeval in nature but it was the last attempt by the people being deficient in strength or power in the society. This section wanted to get rid of the control of the English people which caused great harm and harassment to them.[9] Dr. K.L. Shrivastava was of opinion that in 1857 movement the elements of freedom movement and social struggle were also mixed up with peasants revolt.[10] In this context Pammar observes that the revolt by a section of army or troop of soldiers may be called a sepoy mutiny but when the whole army revolts against an administration supported by the masses it should never be said to be simply a sepoy mutiny. This is what we see in the cause of 1857 Revolution.[11] The British diplomat Disraeli addressing the British parliament called this movement a National Rebellion. This difference in opinion proves that writers do not have similar views regarding the nature of the 1857 movement but there is no doubt in its not being simply a sepoy mutiny. One more point is equally debatable as to when and what stage the public came to join hands with the army. Dr. R.C. Majumdar says that the people joined the movement when the British rule was about to collapse.[12]

But S.B. Chowdhari is of the opinion that is different parts of the country it was the public to revolt first and later the army joined the agitation. He has substantiated his view by citing examples from a number of books in which the Britishers have also accepted that it was a mass up surge.[13]

R.C. Majumdar observes that in the movement of 1857, Bahadur Shah, Nana Saheb, Lakshmi Bai and Kunwar Singh of Bihar played a very important role but of course, they had their own interest.[14] Contradicting this view point Dr. S.B. Chaudhari says that there is no evidence in history, that all great leaders of the movement were fighting for their personal cause and on the basis of the example of the above said four leaders, it is unjust and illogical to decide the nature of this great historical event.[15] There is no doubt that the British historians have knowingly tried to lessen the importance of the movement by calling it merely a feudal upsurge. They also hold this opinion that the movement was not all pervading and had its impact on a very limited area. But they forget that this movement had spread like a wild fire all over the country, specially in Bihar, U.P., Delhi, Haryana and M.P. Besides, this people in central India and Rajasthan also joined the movement with equal zeal and spirit, though the local rulers mostly sided with the British administration. Assam, Bengal, Dhaka, Chatgawan Poona, Kolhapur in south India were also no exceptions, so the

great truth is this that the movement covered most of the parts of the country involving maximum number of people and the majority of the army. Some parts of the country remained unaffected not because they were sympathetic to the British government but because of the geographical setup of the country and for want of proper communication.

In this regard one thing also is very important to note that the people did not have the anti feelings only against the government but also against the traders, businessmen and zamindars who supported the Britishers usurped their property.

While deciding the nature of the movement this had to be taken into consideration that nearly 1,50,000 people lost their life. Out of which 10,0000 men were only civillians. There are examples that at many places the public revolted first then the zamindars came to join them. This is really surprising that those zamindars also revolted who had a very cordial relation with the Britishers. People who did not participate in the movement or the places where the impact of the movement was not seen did not prove that they were sympathetic with the government.[16] In this regard a correspondent of the 'Times' W.H. Russell writes that during the movement no body sympathised with the government and no one was on friendly terms. In Lucknow James Outrum had declared that on the release of every British prisoner a sum of 10,000 would be paid but it had no positive response. The British officer Lagerd has accepted that when he was chasing Kunwar Singh the villagers created great trouble for him.

The nature of the movement has to be decided by the fact that it was Hindu-Muslim combined movement against the alien rule. The British official also accept that they failed to bring Hindus and Muslims against each other.[17]

The movement was basically religious in nature and spirit. After 1813 the Britishers permitted the Christian priests to come over India and to preach and propagate Christianity. They preached the Bible and criticised Indian culture, tradition and religion. So, people grew apprehensive and became more conscious about safeguarding the culture and religion. Moreover the statement of Macaulay strengthened this apprehension that after 30 years from the beginning of the English education in Indian, these shall not remain even a single idol-worshipper in the whole of Bengal. Not only the people but also the soldiers were instigated to accept Christianity. The Muslim were also asked to be clean-shaved and the Hindus were forced to dine with other castes. All this added fuel to the fire and resulted in the great movement of 1857.

All such policies adopted by the British government were sufficient to arouse suspicion in the mind of the people that Indian culture was in danger and that has to be saved. Thus, the movement originated from the religious cause. Dr. S.N. Sen believed that the causes of the movement were at the root of the religion and later on took the shape of a struggle for Independence. The aim of the movement was basically to root out the British regime and to re-establish the Mughal rule.[18] Mr. Tarachand supported the view that the organising factor in the movement was the common agenda of driving away the foreigners from the Indian territory.[19]

In order to know the nature of 1857 movement we should consider some important points regarding other great movements of the world. The blood less revolution 1688 is called 'The Glorious Revolution', but a close study of the revolution will prove that infact nothing glorious could be achieved by this revolution with the help of a foreign prince and his army the English people regained the power which they had lost earlier because of their personal bickerings. This movement did not help even the least in bringing back the democracy or constitutional development as such. In spite of this, the revolution in the British history is accepted as glorious. Similarly, 'The Magna Charta' of 1215 was an attempt to restore the power in order to establish them once again by the feudal lords. But the English historian consider it to be the foundation stone of English

freedom and called it the Bible of the constitution.

Similarly, the Russian Revolution of 1917 resulted in the transfer of power to the proletariat no doubt, but other sections of the society were fully ignored. But still it is called a great revolution. Therefore, while considering the nature of 1857 revolution all these things should be taken into consideration.

So, once again this is justified to mention that 1857 movement was not merely a sepoy Mutiny as described by some foreign historians. In fact, it was a mass movement in which all sections of society, civilians and non-civilians participated in it religiously without personal bias or religious differences. It was why the word foreign (firangi) has become a word of hatred. This anti English feeling gave birth to a struggle for freedom. This is true that in every movement only a section shows a strong determination and no where there is hundred percent involvement.[20] So, was the case with the 1857 revolution. But it certainly produced a deep sense of Nationalism. Naturally it was the first national movement of the first struggle for Independence.

References

1. K. Damodran, Indian Thought, A critical survey, p.-383.
2. Sir Syed Ahmad Khan, The cause of Indian Revolt, p.-12.
3. Ibid, p.-333.
4. V.D. Savarkar, The Indian war of Independence.
5. S.N. Sen, Eighteen Fifty Seven, p.,-405, 411.
6. R.C. Majumdar, The sepoy Mutiny and the Rebellion of 1857, p.-218.
7. S.B. Chowdhari, Civil Rebellion in Indian Mutinies (Calcutta 1957)
8. P.C. Joshi, Rebellion 1857.
9. Tarachand, History of Freedom Movement, p.-43, 45, 107.
10. K.L. Srivastava, Revolt of 1857, p.-243.
11. Palmar, Mutiny out break at Merath, p.-134.
12. R.C. Majumdar, Paramountcy British paramountcy and Indian Renaissance., p.-622-623.
13. S.B. Chowdhari, Civil Rebellion in the Indian Mutiny, p.-298.
14. R.C. Majumdar, Paramountcy, p.-622-623.
15. S.B. Chowdhari, Civil Rebellion in India Muti, p.-22, 8-52.
16. T.R. Metcalf, Land, Landlords and the British Raj., p.-174-179.
17. Mecalf, After month of the Revolty, p.-199-200.
18. S.N. Sen, Eighteen Fifty Seven (1857), p.-411.
19. Tarachand, Freedom Movement Part-II, p.-106-107.
20. S.N. Sen, Eighteen fifty seven (1857), p.-411.

Land Tenure in Ancient India

Beauty Bhagat

Ancient record show that land has been under cultivation in India for more than 5,000 years. In the beginning, tribes exercised control (especially delimitation and defence) over the areas they had taken possession of. This right of the conqueror was the initial from of land right. The tribes allotted to the individual families land for their utilization, usually by means of shifting cultivation. The jungle which covered unlimited land, although economically useless, led to another form of land right, namely, the right of the first clearer. Whoever cleared a plot in the jungle also had the right to use this land. However, this individual right of utilization was only valid as long as the land was actually cultivated. As soon as it was abandoned, the power of disposition over it reverted to the tribe.

The strenuous work of clearing, the necessity of mutual help, small scale defence measures, and the expansion of the families led, in the course of time, to the formation of villages which assumed the regulation of land rights. Two different forms developed in time. The village which had individual land rights consisted of a group of families which had rights to the land on the basis of having cleared it. The claims of the families were limited to the cleared land. The uncultivalabel land in the vicinity of the village was jointly utilized, but no claims were made to it. It belonged to the ruler who, in later epochs, also granted permission to cultivate the land.

In the case of villages which held land rights jointly, the village community claimed the right to all land within the village boundaries and allotted it to individual families for utilization. The administration was not carried out by a village headman, but by the panchayat, a village council in which the individual families had their say. Thus, at an early period already, there were individual and joint land rights. But landed property, as known in the West, did not exist at all. The rights were a privilege granting inheritable utilization rights and included social obligations, especially taking consideration of the village community's interests.

Because of the need for defence, authority concentrated in the course of time, and thus, a state was formed with one ruler at its head. Costs of governing were covered, at first, with gifts. Soon, however, it became obligatory to deliver a share of the grain yield- in other words-, a tax was introduced. The king was thus only given a right to a share of the yield, but no rights to the land and its utilization. However, he was entitled to all the uncultivated land that lay between the villages.

It was necessary to establish an official hierarchy to collect the taxes. The tax collectors were remunerated by being given a share of the collected taxes and a plot of crown land. This "watan" land was free of tax, inheritable, and transferrable, and represented a new form of land rights, namely, land rights on account of the government allotting land to government officials.

In the course of time, the tasks of the central government increased. In this huge country where transport conditions were difficult, possibilities of simplifying administration played an important role. Therefore, the ruler allotted the tax revenue from specific areas to people who had to maintain troops in the provinces, make roads passable, and keep the passes open. At first, the transfer of the right to these taxes was valid only for the time during which these tasks were carried out. Even priests and favourites were provided for in that way, at first for life, later on, all these cessions became inheritable. This right to the land on the basis of the transfer of the right to taxes included taxes only, but not ownership of the land as in the case of 'watan' lands.

Research Scholar, Department of History, T.M.B.U., Bhagalpur

In pre-Islamic times already, there had been a diversification in the land rights. In addition to the land claims of the village community and the farmers based on the right of the conqueror and the first clearer, the ruler's claims to a share of the yield and the uncultivated land between the villages were generally recognized. In addition, the right to collect taxes for certain regions was transferred to specific people and land rights to officials. These were only allotted crown land. The traditional rights of the cultivators remained unaltered.

The Mughals who conquered India in the 12th century left the land to the cultivators at first in exchange for the usual taxes. Often, former small rulers were employed as tax collectors and were given 10% of the collected amount as remuneration for their trouble. They were even allowed to keep the land they had held before and were exempted from paying taxes. They were strictly controlled to prevent them from collecting more taxes than was lawful.

Emperor Akbar (1556-1605) implemented radical reforms. He replaced the payment of taxes in kind by a monetary tax which was no longer fixed as a share of the actual but rather of the average yield. Thus, it was not calculated according to the yield, but according to the area sown, and the cropping risk was shifted to the cultivators. In addition, the taxes were increased to amount to half of the average yield. Although this resulted in evil times for the rural population, the Mughals did not make any claims to the land itself after their conquest. Tax administration was high level; a land register was introduced; and taxes were levied according to criteria such as quality of the soil, and so on.

After Aurangzeb's death in 1707, the power of the central government decreased rapidly, and the control over the tax revenues was lost. In order to obtain revenues at all, tax collectors' posts were leased to the highest bidders in exchange for fixed sums. On the basis of their knowledge of the local conditions, the tax collectors were free to extort as much as possible from the rural population and keep for themselves the difference between the collected taxes and the amount to be remitted. These "assignees" were the first intermediary step in the direct tax relations between the government and cultivators.

The transfer of tax collection rights, know already in pre-Mughal times, for specific regions as remuneration for services rendered became so common that, under Aurangzeb's reign, 90 % of all tax revenues fell to such privileged parties, and only 10 % to the ruler. These grants of land with the right to collect taxes from it were also conferred on favourites. The conferment of such "jagir" transferred all the rights the government held, *i.e.*, taxes, claims to uncultivated land, police power, etc., but no claims to the cultivators' land. Whenever tax collectors became landlords in the course of time, this was due to their reclaiming waste land or their confiscating the land of people who owed taxes.

Towards the end of the Mughal era, a type of "right" to land developed which was in the hands of sometimes parasitical rent collectors who did not perform any work.

But this refers to the government's tax rights, not to a direct claim to landed property, or land utilization, on peasants' land. Their old saying 'Taxes are the king's wealth, the land belongs to me" was still valid.

References

Ali, M. Athar. "The Mughal Policy—A Critique of Revisionist Approaches," *Modern Asian Studies* [London], 27, Pt. 4, October 1993, 699-710.

Bayly, C.A. *The New Cambridge History of India, II.1: Indian Society and the Making*

Chandra, Satish. *Medieval India: A Textbook for Classes XI-XII*. 2 vols. New Delhi: National Council of Educational Research and Training, 1978.

Das, Arvind. *India Invented*. New Delhi: Manohar, 1992.

Embree, Ainslie T., ed. *Alberuni's India*. New York: Norton, 1971.

Habib, Irfan. *An Atlas of the Mughal Empire*. Delhi: Oxford University Press, 1982.

❖❖❖

"The Confluence of Indian Culture and Islam"

Ramesh Kumar Gupta

In this vast land of ours have dwelt, since the time immemorial peoples of different races and cultures and into this land entered races form beyond the mountains and seas. But the old inhabitants and the new comers, after they had struggled and fought, eventually forgot their enemities, made peace and joined in their common endeavour. Each epoch of such a fusion was marked by an efflorescence of culture in which the different elements were so cunningly mixed as to make one whole. The Socio-economic continuity is the distinguishing is the feature of Indian history. The unity of her history, her ideals and of her humanity is the living spirit of India.

India had commercial as well as socio-cultural relationship with the west Asian countries and Europe long before the rise of Islam, the Arabs served as the connecting link between India and the outside world in this regard. After their conversion to Islam the Arabs cast their covetous eyes on India. The Muslim conquest of India was very slow. It took them six centuries to reach the southern confines of India. The invaders came to India in three stages. The first invasion look place in A.D. 712, led by Muhammad bin Qasim. The Arabs were not destined to raise Islam to be a political force in India1. The second set of invasion occured at the end of the tenth and the beginning of the eleventh century, led by Subuktigin and Mahmud of Ghazni who belonged to a Turkish family. The final stage, which led to the establishment of the Muslim rule in India, consisted of the invasion of Muhammad Gori two hundred years later. Islam and Hinduism, which appeared at the start, so antithetical, at last intermingled, each one stirred the profoundest depth of the other and, form their synthesis, grew the religion of Bhakti and Taswwuf the religion of love and devotion, which swept the hearts of millions following different religions and sects of India. The establishment of Delhi Sultanate led to a prolonged and deeper contact between Hinduism and Islam. Both religions were influenced by each other and mutual exchange of ideas and thoughts took place. The Bhakti Movement and Sufism provide the best example of the interaction between them. The currents of Islamic Sufism and Hindu Bhakti combined into a mighty stream, which fertilized old desolate tracts and changed the face of the country. It was in this spirit of India which achieved apparently an impossible task of reconciling the puritanical severity and awe-inspiring transcendence of Islam into the luxuriant fullness and abundance of forms and the intuitive perception of their immanent unity with Hinduism, and created those monuments of architecture and painting, music and poetry and love-inspired religion which are the heritage of Indian history during the middle ages.

It was through the teaching of Sufis that Islam found entrance into Hindu hearts. They fraternized with Hindu ascetics and gurus; and each learnt to respect the other's religion faith and life. It was realized by the Muslim rulers on the whole, that in the condition existing in India, the Islamic laws promulgated for the Arab society of Madina were not strictly applicable. The form of society, which the prophet of Islam envisaged and in which the state was the Church and the Church the state, did not last more than thirty years. The Abbasids who came after Umaiyads shed the simple Arab manners, surrounded themselves with pomp and pelf, and introduced in their counts the etiquette, ceremony and splendor of ancient Iran2. Prof. M. Habib says: "It is true that Muslim kings, mostly of foreign extraction, sat on Indian thrones for some six or seven centuries. But they could only do so because their

NET Qualified, R.S., T.M.B.U., Bhagalpur

enthronement was not the enthronement of Music rule"; had it been otherwise they could not have lasted for a single generation[3].

Thus medieval Indian society as it stood in the beginning of the eighteenth century on the eve of the establishment of the British rule had come into existence as a result of five hundred years of continuous interaction and synthesis between Hinduism and Islam, or the two socio-cultural streams. What precise role was played by Islam in moulding the composition and character of the Indian society is a matter of conjecture; one thing is however certain that the sum-total of Islamic contribution to the medieval Indian society was but a fraction of the whole. India, the land of teeming millions, with one of the richest and the most conservative cultural treasure troves of the world, was like mighty ocean into which the Islamic stream of refreshing and invigorating waters mingled up and became a part and parcel of the whole. The descendants of the once foreign Muslim conquerors were thoroughly Indianised by the end of the seventeenth century; India became their homeland of watan as much as that of the Hindus, and from the socio-cultural points of view they became indistinguishable from the rest of the Indian masses but for their 'sentimental leanings' towards Mecca and Medina which were the places of pilgrimage for them as Kapilvastu, Bodhgaya and Nalanda had once been for the Buddhists of south Asia and China. Otherwise the Muslim countries of Arabia, Iran and Turkistan were as much foreign to them as they were to the Hindus of India. The thesis of Mohammad Yasin is correct that 'the Muslims of Hindustan were different from their co-religionists in the other parts of the word. In spite of the existence of two religions; there were not any deep cultural differences between them. They took pleasure in the study of each other's religion, philosophy and science. Their arts were common. They had no prejudices in regard to participation in the fairs and festivals of each other. They spoke the same language, wore similar clothes, furnished their houses in the same style, had similar outlook upon the life of this world, if not also the next.

According to Havell, the great admirer of Hinduism, Islam influenced the Hindu social life in two ways. There was a rise of rigidities in the Hindu society. Islam also gave the depressed and downtrodden masses the prospect of improving their social status and economic lot. Havell has emphatically observed that it was not the philosophy of Islam but the democratic nature of the Islamic society that attracted the attention of the Indian people [5].

The Muslim adopted many Hindu marriage customs, and followed a number of practices which were repugnant to Islamic law; for example in the matter of fixing the degree of kingship for eligibility in marriage, in prescribing limits of endogamy and exogamy based upon tribal and class divisions, in the observance of ceremonial accompanying the marriage contract. Law of inheritance were supplanted by custom (urf) in many parts of India. Window marriage and divorce were frowned upon as among the Hindus [6]. The Muslims adopted many Hindu funeral ceremonies, for example, the Tija, the Daswan etc. The ceremonies concerning pregnancy and childbirth like the seventh month, sixth day to child birth, the shaving of the child's head (Mundan = Aqiq), licking of Khir, boring of ears, birthday anniversary etc. were common to both. Every such purely Hindu practices as the immolation of the widow on the death of her husband and Jauhar were occasionally restored to by the Muslim. Ibn Batuta relates the story of the defeat of Ainul Mulk by Muhammad Bin Tughlaq and tells how his wife plunged into death after her husband. Again the Zafar Namah describes the Jauhar committed by wife of Kamaluddin, governor of Bhatnair, when he proceeded to fight against Timur.

It is true the religious fasts and festivals of the two communities were different but the manner of observing them was more or less similar. Muharram celebrations were assimilated to Dasehra. Shab-e-Barat to Shivaratri, Ramzan and

Id to Navartara etc. Besides there were many fairs and festive occasions which were common; and even so far as the peculiar communal festival were concerned the Hindus and the Muslims participated in Both, e,g, Holi and Muharram. Muhammad Bin Tughlaq was the first Delhi Sultanate king who participated in Holi. The various Hindu and Muslim festivals were celebrated with impartial splendour On the Dasehra, the anniversary of Rama's victory over demons, the imperial horses and elephants were arrayed in decorated canopy and paraded for inspection. On the Raksha-Bandhan, the Hindu nobles and Brahmins fastened strings on the Emperor's arm. Divali saw gambling in the palace, and Shivaratri was duly observed. Nor were the Muslim Id and Shab-e-bar At neglected[7].

Marriage between Muslims and Hindus were rare, but those among the ruling families were well recognized. The Mughal emperors were not the pioneers of this policy. In Kashmir Hindu-Muslim marriages were of a long-standing. Zain-ul-Abedin (1420-70) married the two daughter of Raja Manakdeo of Jammu [8]. Another daughter was married to Raja Jasrath, the Muslim Gakkhar Chief[9].

Akbar, Jahangir, Farrukh Siyar, Sulaiman Shukoh and Sipihr Shukoh took Hindu princesses for their wives. The Hindu royal family of Kachh formed matrimonial alliances with the Muslims [10]. On the other side, the Hindu was far too ridden with caste inhibitions to receive a Muslim lady in the innermost sanctum of his palace. Yet such instances were not unknown. In Rajauri, Laddakh and Baltistan, Jahangir noticed inter-marriages between the two communities [11]. The love affair of Peshawa Baji Rao-I with Mastani is well known. She was a dancing girl who became Peshwa's constant companion and accompanied Baji Rao in his campaigns and rode stirrup to stirrup with him [12]. In 1734 she bore the Peshwa a son, Shamsher Bahadur, who was brought up as a Muslim.

Socially the Musalmans of India developed an organization Similar to that of the Hindus. Muslim societies in India, unlike Muslim societies in other countries, became divided into castes comparable with the Hindu caste system. Sayyids correspond with Brahmins, Mughal and Pathans with Kshatriyas, Shaikhs with Vaisyas, and the group of artisans araftsmen and labourers with Shudras. In every social system women holds a characteristic position, Arab and Turkish societies differ considerably from Hindu society in this Turkistan but those of India. In toilet, dress, ornaments, ways of social intercourse, daily routine of life, they adopted from Hinduism. Nisbat, Haldi, Mehndi, Tel, Mandwa, Barat, Jalwa, Kangan etc. were Muslim adaptations of Hindu ceremonies. Early marriage of girls, prohibition of widow marriage, dependence and subordination of woman and the use of the veil were common to Hindus and Muslims[13].

The presence of Islam made the Hindus more orthodox and conservative in their religious outlook and social customs. Caste system became still more rigid and the evils of child marriage and infanticide found their way into the Hindu society as a negative impact of aggressiveness of the Muslim conquerors. Purdah system of the Muslims was adopted by the ladies of upper strata of the Hindus. Muslims in India largely discarded the garments worn in Arabia, Iran and Central Asia and mainly adopted India costumes and clothes. The use of Arab amAma, Jubba, Ridah, Tahmad and Tasma disappeared, giving place to Hindu pagri and Chira, Kurta and angarkha, Patka and dopatta Pajama and Juta[14].

The entire range of Muslim dress, social customs and food habits, indoor and out-door games, manners and social behaviour, superstitions and taboos were absorbed by the multitude of the Hindus without demur except that they would not touch beef nor eat in the common utensils or kitchens with the Muslims.

In the cultural aspects of life, we find the same kind of fusion there. Arabic is the sacred language of Islam. It is not now the language of any group of musalmans in India, although it is studied by the

learned for obvious reasons. Turkish was the spoken language of the court from the beginning of Muslim rule till its final overthrow. Neither of these languages is today spoken by the India Muslims, nor has the conqueror imposed them on the conquered.

It was during this period that modern regional languages developed. Love and devotion expressed themselves in poetry and music. They were instruments in bringing about union with God. Urdu; a common literary heritage of Hindus and Muslims, and a symbolic representation of cultural synthesis between Hinduism and Islam, Persian the state language, was in the long run, accepted by the Hindus as the language of opportunity and synthetic culture of the age. Modern Hindus language of took birth during Muslim period. From the thirteenth century onward, not only Khushru but a large number of Sufi Saints contributed to the development of Hindu language. The close interaction of Sufism and Chaitanyaism gave rise to Baul songs[15]. This was a movement against all externalism whether of Hindus or of Muslims. They were a creation of Hindu-Muslim unity.

Ancient Hindu architecture was changed beyond all recognition by the impact of Islam; so much so that even the Hindu temples 'could not remain immune from the influence of the Mughal architectural forms; the Rajput chieftains freely patronised Mughal art and architecture and transmitted the cultural trends of the imperial court, in the cultivation of which they themselves had played a significant role, to their states and its aristocracy. Hindus were not unfamiliar with gardens in the past albeit the mughal gardens as referred to above, constituted a rich cultural heritage to the whole of India.

Thus, during the medieval period Hindusim existed certainly not in a bad position as it is propagated by the traditional elements. The neglected class of Hindu society loved Islam. The medieval social and religions reformers were welcome by Islam. The teachings of the Sufism attracted many Hindu. It was Islam by dint of which the concept of one God was found in Sikhism and other religious sects.

References

1. A.B.M. Habibullah, Foundation of Muslim rule in India; Allahabad, 2nd Ed; 1961, P. 2
2. Dr. Tarachand, Society and State in the Mughal Period, p. 58.
3. Fatawa-e-Jahandari, translated by Prof. M. Habib and Dr. Afzal Begum, Medieval India Quarterly, Vol. III, Nos. 1 & 2, July-Oct.; 1975, p. 5.
4. Mohammad Yasin, A Social History of Islamic India (1605-1748); Munshiram (1958), Sec. Rev. ed; 1974, pp. 77-78.
5. Havell : Aryan Rule in India
6. Vide Tuper, C.L., Punjab Customary Laws; also R., Burn, Census of India, 1901, Vol. XVI, Part-I, pp. 92 et. sq.
7. Dr. Beni Prasad, History of Jahangir, pp. 99-100
8. See Jonaraja, Rajatarangini (translated by J.C. Dutt), p. 86; Srivara, Zain Rajatarangini (translated by J.C. Dutt), p. 194
9. The Indian Antiquary, Vol. XXXVI, 1907, p.8
10. Jadunath Sarkar, History of Aurangzeb, Vol. II, p. 163 footnote.
11. Tuzuk-i-Jahangiri (Rogger's Translation), Vol. II, p. 181
12. Tarikh-i-Muhammad Shahi, quoted by G.S. Sardesai, New History of Marathas, Vol. II, p. 118
13. Dr. Tarachand : Hindus and Muslim Problems, p. 36.
14. Havell : Aryan rule in India
15. Muslim Bangla Literature by Inamul Haq.
16. A medieval counterpart of the modern-self-seeking politicians.

Philosophy of Mind

Dr. Dhananjay Kumar Singh

Philosophy of mind is a branch of modern analytic philosophy that studies the nature of the mind, mental events, mental functions, mental properties, consciousness and their relationship to the physical body, particularly the brain. The mind-body problem, i.e. the relationship of the mind to the body, is commonly seen as the central issue in philosophy of mind, although there are other issues concerning the nature of the mind that do not involve its relation to the physical body. Dualism and monism are the two major schools of thought that attempt to resolve the mind-body problem. Dualism can be traced back to Plato, Aristotle and the Sankhya and Yoga schools of Hindu philosophy, but it was most precisely formulated by René Descartes in the 17th century. Substance Dualists argue that the mind is an independently existing substance, whereas Property Dualists maintain that the mind is a group of independent properties that emerge from and cannot be reduced to the brain, but that it is not a distinct substance.

Monism is the position that mind and body are not ontologically distinct kinds of entities. This view was first advocated in Western philosophy by Parmenides in the 5th century BC and was later espoused by the 17th century rationalist Baruch Spinoza. Physicalists argue that only the entities postulated by physical theory exist, and that the mind will eventually be explained in terms of these entities as physical theory continues to evolve. Idealists maintain that the mind is all that exists and that the external world is either mental itself, or an illusion created by the mind.

Neutral monists adhere to the position that there is some other, neutral substance, and that both matter and mind are properties of this unknown substance. The most common monisms in the 20th and 21st centuries have all been variations of physicalism; these positions include behaviorism, the type identity theory, anomalous monism and functionalism. Most modern philosophers of mind adopt either a reductive or non-reductive physicalist position, maintaining in their different ways that the mind is not something separate from the body. These approaches have been particularly influential in the sciences, especially in the fields of sociobiology, computer science, evolutionary psychology and the various neurosciences. Other philosophers, however, adopt a non-physicalist position which challenges the notion that the mind is a purely physical construct.

Reductive physicalists assert that all mental states and properties will eventually be explained by scientific accounts of physiological processes and states. Non-reductive physicalists argue that although the brain is all there is to the mind, the predicates and vocabulary used in mental descriptions and explanations are indispensable, and cannot be reduced to the language and lower-level explanations of physical science. Continued neuroscientific progress has helped to clarify some of these issues. However, they are far from having been resolved, and modern philosophers of mind continue to ask how the subjective qualities and the intentionality (aboutness) of mental states and properties can be explained in naturalistic terms.

The Mind-body Problem

The mind-body problem concerns the explanation of the relationship that exists between minds, or mental processes, and bodily states or processes. The main aim of philosophers working in this area is to determine the nature of the mind and mental states/processes, and how—or even if—minds are affected by and can affect the body. Our perceptual experiences depend on stimuli which arrive at our various sensory organs from the external world and these stimuli cause changes in our mental states, ultimately causing us to feel a sensation, which may be pleasant or

PG Department of Psychology, Jagadam College, Chapra

unpleasant. Someone's desire for a slice of pizza, for example, will tend to cause that person to move his or her body in a specific manner and in a specific direction to obtain what he or she wants. The question, then, is how it can be possible for conscious experiences to arise out of a lump of gray matter endowed with nothing but electrochemical properties. A related problem is to explain how someone's propositional attitudes (e.g. beliefs and desires) can cause that individual's neurons to fire and his muscles to contract in exactly the correct manner. These comprise some of the puzzles that have confronted epistemologists and philosophers of mind from at least the time of René Descartes.

Dualist Solutions to the Mind-body Problem

Dualism is a set of views about the relationship between mind and matter. It begins with the claim that mental phenomena are, in some respects, non-physical. One of the earliest known formulations of mind-body dualism was expressed in the eastern Sankhya and Yoga schools of Hindu philosophy (c. 650 BCE), which divided the world into purusha (mind/spirit) and prakrti (material substance). Specifically, the Yoga Sutra of Patanjali presents an analytical approach to the nature of the mind.

In Western Philosophy, the earliest discussions of dualist ideas are in the writings of Plato and Aristotle. Each of these maintained, but for different reasons, that humans' "intelligence" (a faculty of the mind or soul) could not be identified with, or explained in terms of, their physical body.

However, the best-known version of dualism is due to René Descartes (1641), and holds that the mind is a non-extended, non-physical substance. Descartes was the first to clearly identify the mind with consciousness and self-awareness, and to distinguish this from the brain, which was the seat of intelligence. He was therefore the first to formulate the mind-body problem in the form in which it still exists today.

Arguments for Dualism

The most frequently used argument in favour of dualism is that it appeals to the common-sense intuition that conscious experience is distinct from inanimate matter. If asked what the mind is, the average person would usually respond by identifying it with their self, their personality, their soul, or some other such entity.

They would almost certainly deny that the mind simply is the brain, or vice-versa, finding the idea that there is just one ontological entity at play to be too mechanistic, or simply unintelligible. The majority of modern philosophers of mind think that these intuitions, like many others, are probably misleading and that we should use our critical faculties, along with empirical evidence from the sciences, to examine these assumptions to determine whether there is any real basis to them. Another important argument in favour of dualism is the idea that the mental and the physical seem to have quite different, and perhaps irreconcilable, properties. Mental events have a certain subjective quality to them, whereas physical events do not. So, for example, one can reasonably ask what a burnt finger feels like, or what a blue sky looks like, or what nice music sounds like to a person. But it is meaningless, or at least odd, to ask what a surge in the uptake of glutamate in the dorsolateral portion of the hippocampus feels like.

The Argument from Reason holds that if, as monism, all of our thoughts are the effect of a physical cause, then we have no reason for assuming that they are also the consequent of a reasonable ground. Knowledge, however, is apprehended by reasoning from ground to consequent. Therefore, if monism, there would be no way of knowing it—or anything else not the direct result of a physical cause—and we could not even suppose it, except by a fluke.

Philosophers of mind call the subjective aspects of mental events 'qualia' or 'raw feels'. There is something *that it is like* to feel pain, to see a familiar shade of blue, and so on. There are qualia involved in these mental events that seem particularly difficult to reduce to anything physical.

If consciousness (the mind) can exist independently of physical reality (the brain), one must explain how physical memories are created concerning consciousness. Dualism must therefore explain how consciousness affects physical reality. One possible explanation is that of a miracle, proposed by Arnold Geulincx and Nicholas Malebranche, where all mind-body interactions require the direct intervention of God. Another possible explanation has been proposed by C. S. Lewis. Although at the time Lewis wrote Miracles, Quantum Mechanics (and physical indeterminism) was only in the initial stages of acceptance, he stated the logical possibility that if the physical world was proved to be indeterministic this would provide an entry (interaction) point into the traditionally viewed closed system, where a scientifically described physically probable/ improbable event could be philosophically described as an action of a non physical entity on physical reality.

The zombie argument is based on a thought experiment proposed by David Chalmers. The basic idea is that one can imagine, and therefore conceive the existence of, one's body without any conscious states being associated with it. Chalmers' argument is that it seems very plausible that such a being could exist because all that is needed is that all and only the things that the physical sciences describe about a zombie must be true of it. Since none of the concepts involved in these sciences make reference to consciousness or other mental phenomena, and any physical entity can be by definition described scientifically via physics, the move from conceivability to possibility is not such a large one. Others such as Dennett have argued that the notion of a philosophical zombie is an incoherent, or unlikely, concept. It has been argued under physicalism, that one must either believe that anyone including oneself might be a zombie, or that no one can be a zombie-following from the assertion that one's own conviction about being (or not being) a zombie is a product of the physical world and is therefore no different from anyone else's. This argument has been expressed by Dennett who argues that "Zimboes think^Z they are conscious, think^Z they have qualia, think^Z they suffer pains-they are just 'wrong' (according to this lamentable tradition), in ways that neither they nor we could ever discover!"

Interactionist Dualism

Interactionist dualism, or simply interactionism, is the particular form of dualism first espoused by Descartes in the *Meditations*. In the 20th century, its major defenders have been Karl Popper and John Carew Eccles. It is the view that mental states, such as beliefs and desires, causally interact with physical states. Descartes' famous argument for this position can be summarized as follows: Seth has a clear and distinct idea of his mind as a thinking thing which has no spatial extension (i.e., it cannot be measured in terms of length, weight, height, and so on). He also has a clear and distinct idea of his body as something that is spatially extended, subject to quantification and not able to think. It follows that mind and body are not identical because they have radically different properties. At the same time, however, it is clear that Seth's mental states (desires, beliefs, etc.) have causal effects on his body and vice-versa: A child touches a hot stove (physical event) which causes pain (mental event) and makes her yell (physical event), this in turn provokes a sense of fear and protectiveness in the caregiver (mental event), and so on.

Descartes' argument crucially depends on the premise that what Seth believes to be "clear and distinct" ideas in his mind are necessarily true. Many contemporary philosophers doubt this. For example, Joseph Agassi suggests that several scientific discoveries made since the early 20th century have undermined the idea of privileged access to one's own ideas. Freud has shown that a psychologically-trained observer can understand a person's unconscious motivations better than the person himself does. Duhem has shown that a philosopher of

science can know a person's methods of discovery better than that person herself does, while Malinowski has shown that an anthropologist can know a person's customs and habits better than the person whose customs and habits they are. He also asserts that modern psychological experiments that cause people to see things that are not there provide grounds for rejecting Descartes' argument, because scientists can describe a person's perceptions better than the person herself can.

Other Forms of Dualism

1. Psychophysical parallelism, or simply parallelism, is the view that mind and body, while having distinct ontological statuses, do not causally influence one another. Instead, they run along parallel paths (mind events causally interact with mind events and brain events causally interact with brain events) and only seem to influence each other. This view was most prominently defended by Gottfried Leibniz. Although Leibniz was an ontological monist who believed that only one type of substance, the monad, exists in the universe, and that everything is reducible to it, he nonetheless maintained that there was an important distinction between "the mental" and "the physical" in terms of causation. He held that God had arranged things in advance so that minds and bodies would be in harmony with each other. This is known as the doctrine of pre-established harmony.
2. Occasionalism is the view espoused by Nicholas Malebranche which asserts that all supposedly causal relations between physical events, or between physical and mental events, are not really causal at all. While body and mind are different substances, causes (whether mental or physical) are related to their effects by an act of God's intervention on each specific occasion.
3. Property dualism asserts that when matter is organized in the appropriate way (i.e. in the way that living human bodies are organized), mental properties emerge. Hence, it is a sub-branch of emergent materialism. These emergent properties have an independent ontological status and cannot be reduced to, or explained in terms of, the physical substrate from which they emerge. This position is espoused by David Chalmers and has undergone something of a renaissance in recent years, but was already suggested in the 19th century by William James.
1. Epiphenomenalism is a doctrine first formulated by Thomas Henry Huxley. It consists in the view that mental phenomena are causally ineffectual. Physical events can cause other physical events and physical events can cause mental events, but mental events cannot cause anything, since they are just causally inert by-products (i.e. epiphenomena) of the physical world. This view has been defended most strongly in recent times by Frank Jackson.
2. Non-reductive Physicalism is the view that although mental properties form a separate ontological class to physical properties, all mental states are casually reducible to physical states.

Monist Solutions to the Mind-body Problem

In contrast to dualism, monism states that there are no fundamental divisions. Today, the most common forms of monism in Western philosophy are physicalist. Physicalistic monism asserts that the only existing substance is physical, in some sense of that term to be clarified by our best science.

However, a variety of formulations are possible. Another form of monism, idealism, states that the only existing substance is mental. Although pure idealism, such as that of George Berkeley, is uncommon in contemporary Western philosophy, a more sophisticated variant called panpsychism, according to which mental experience and properties may be at the foundation of physical experience and properties, has been espoused by some philosophers such as William Seager.

Phenomenalism is the theory that representations (or sense data) of external objects are all that exist. Such a view was briefly adopted by Bertrand Russell and many of the logical positivists during the early 20th century.

A third possibility is to accept the existence of a basic substance which is neither physical nor mental. The mental and physical would then both be properties of this neutral substance. Such a position was adopted by Baruch Spinoza and was popularized by Ernst Mach in the 19th century. This neutral monism, as it is called, resembles *property dualism*.

References

1. Oliver Elbs, *Neuro-Esthetics: Mapological foundations and applications (Map 2003)*, (Munich 2005)
2. Kim, J. (1995). Honderich, Ted. ed. *Problems in the Philosophy of Mind. Oxford Companion to Philosophy*. Oxford: Oxford University Press.
3. Plato (1995). E.A. Duke, W.F. Hicken, W.S.M. Nicoll, D.B. Robinson, J.C.G. Strachan. ed. *Phaedo*. Clarendon Press.
4. Robinson, H. (1983): 'Aristotelian dualism', Oxford Studies in Ancient Philosophy 1, 123–44.
5. Nussbaum, M. C. (1984): 'Aristotelian dualism', Oxford Studies in Ancient Philosophy, 2, 197–207.
6. Nussbaum, M. C. and Rorty, A. O. (1992): Essays on Aristotle's De Anima, Clarendon Press, Oxford.
7. Sri Swami Sivananda. "Sankhya:Hindu philosophy: The Sankhya".
8. Descartes, René (1998). *Discourse on Method and Meditations on First Philosophy*. Hacket Publishing Company. ISBN 0-87220-421-9.
9. Hart, W.D. (1996) "Dualism", in Samuel Guttenplan (org) *A Companion to the Philosophy of Mind*, Blackwell, Oxford, 265-7.
10. Spinoza, Baruch (1670) *Tractatus Theologico-Politicus* (A Theologico-Political Treatise).

❖❖❖

Effect of Socio-economic Status on Creativity

Dr. Om Prakash Singh

Creative persons have been found in every country and in every age. It is never dependent on the special blessing of God. It is generally accepted that creativity is found in every living creatures in varied degrees. Some persons are of the opinion that only film artists, scientists, painters, musicians, poets and writers are creative. Modern psychologists have not accepted this theory. In their observation creativity can have its effect in any field of life. Teachers, clerks, labourers, cooks, farmers and industrial workers, etc. may be creative in their own field particularly. A teacher imparts useful education to the students, a cook prepares tasteful feed, a clerk discharges his duty responsibly. It means creativity is present in them. Creativity is the ability to produce new forms in art or mechanics or to solve problems by normal methods.

Let us make a comparative study of the definitions of creativity given by two eminent psychologists-Guilford and K.N. Sharma.

Guilford (1950) had demonstrated the Air Corps research on the selection of combat crews and, he launched much of this new effort with his address as retiring president of the American Psychological Association in September 1950. In that address he systematically served the gaps in the knowledge in the domain of intellectual abilities. He resulted out of 1,21,000 titles listed in psychological abstracts over a period of 23 years preceding 1950, only 186 had definite bearing on the problem. He started his address with these words-"I discuss the subject of creativity with considerable hesitation, for it represents an area in which psychologists, whether they be angels or not, have feared to freed."

Creativity had remained the focus of attention of educators in the countries around the world almost after 1950s. But creativity could not fetch a single generally agreed definition. The main reason thereof is that different thinkers view it from different perspectives and do not agree on any solitary definition.

Sharma (1979) has collected the ideas of Hallman (1963), Jackson (1965) and Mendick (1969). He considered the following categories of creativity connectedness, originality, non-rationality, self-actualisation and openness. In creativity testing the 'appropriateness' is also generally applied as a criteria on of creativity. This term may be used with satisfaction and accuracy-the principle of fitness.

Some others consider 'Transformation' as a criteria of creativity. Jackson and Massick in 1965 referred it as a process. 'Condensation' is also supposed to be a criteria on of creativity 'Spontancity' and 'Acceptance' are also important criteria of creativity.

Thus, we find that there are a number of criteria considered by different psychologists.

Many tests of creativity were made by foreign psychologists. Various tests of creativity have been developed in India also. Sharma developed its test in 1964. It measures subject's responses on the test items in the context of fluency, flexibility, elaboration and originality.

Methodology : The present study was carried out in government schools located at Muzaffarpur in the State of Bihar. The purpose of the study was to investigate the relationship between creativity and intelligence of the Hindu-Muslim male and female students. The socio-economic background and sex variable of these school students have also been taken into account. With this end in view, the sample was taken from students both male and female. The another selected government boys' and girls' schools of Muslims and Hindus areas where mostly students come from different socio-economic backgrounds for their study. The number and

Lecturer, Dr. P.N. Singh Degree College, Chapra

type of respondents varied from one school to another depending upon the availability of the desired sample. Proper care was taken to obtain equal representation of the respondents.

In 1972 K.N. Sharma employed a study on a high school students. He found a little rise in creativity with a rise in intelligence in both rural and urban samples.

Sharma's Socio-economic status scale : Socio-economic status refers to a relative position in the society on the given economic condition. This was measured with a scale developed by Sharma in 1975. The scale consists of 20 items pertaining to educational, professional, income, future saving, housing and other facilities which the family has. Each item has different alternate choices which the respondents have to point to. The reliability coefficient using odd-even method is 0.94 and test-retest method 0.97.

Procedures : The test of creating (both verbal and nonverbal) intelligence along with Sharma's socio-economic scale were administered to different samples taken from class nine of different schools.

Firstly, permission was taken from the heads of the institutions for the test. The author selected small sample of about twentyfive students at a time for the purpose or test administration in order to pay individual attention to the respondents. For the purpose of generating confidence and sense of co-operation, the author established full rapport with the testees. It was acknowledged that the respondents agreed fully to cooperate with the author, as they found themselves involved in their measurement of intelligence and creativity. Once the co-operation from the side of respondents was ascertained it was decided to administer the different tests in different sessions so that boredom and fatigue could be minimised.

The decision for administering various tests at different time intervals was taken also on the ground that these tests measured different variables independently, so it was not out of the way to administer them in small series at different time intervals. The tests were administered to the respondent in small groups while the tests were administered, the author made the respondents fully acquainted with the general procedure involved in test administration. The author imparted some general verbal instructions for the purpose of case and praise in taking the test. On the whole it can be said that all possible steps were adopted for securing sincere and true responses from the subjects by getting them fully involved.

The test of creativity (verbal) and socio-economic status scale were administered in one session and the test of general intelligence, nonverbal test or creativity were administered in another session after an interval of two hours.

If both the verbal and non-verbal tests are to be administered, it has been recommended that they should be given in two different settings, the verbal test may be given first, if the two tests are to be given same day a break of two to three hours should be given. It has been recommended also that for a well rounded information about the creative abilities of a pupil both the verbal and nonverbal test should be used.

After the testing session was over the author expressed her sincere thanks and blessings to the respondents.

Table-1: *The mean score and 't' value obtained on the test of verbal intelligence in terms of IB by high and low creative (categorised on the basis of the median value of the composite score on nonverbal test of creativity of Hindu)*

	Mean Score IB	***SD***	***'t' value***	***Level of Significance***
High creatives N=101	104.19	15.00	3.36	0=0
Low creatives M=99	99.4			
df=198				

00 significant at -01 level.

The finding of Table-1 shows that nonverbal high creative Hindus have great mean scores on the test of intelligence (in term of IB) as compared to the nonverbal low creative Muslims (mean value -104.10 and 00-14 respectively). The difference between two mean is also significant.

Sharma's Socio-economic Status Scale

Sample : 400 randomly selected students boys and girls-constituted sample of the study. Subjects were further divided into high and low socio-economic status. The sample was also divided into 200 Muslims and 200 Hindus.

Procedure: A pilot study was conducted before the main study to test the workability of instruments. During this phase, the instruments were administered to 100 students. When the pilot study result showed the workability of the instruments, the sample was selected for the present study.

Result: One the basis of the finding the following conclusions were drawn:

1. The finding suggest that intelligence and creativity are positively and significantly correlated. This notion was supported by the application of 't' ratio, when the high and low groups of subjects categorised on the score of the test of creative thinking, were compared with regard to their index of brightness, they differed significantly. It is also concluded that high creatives are more intelligent as compared to their low counterparts. The comparison was based on verbal and nonverbal creativity. It was also found that Hindu male and female students were found more intelligent in comparison to their Muslim counterparts.
2. The high socio-economic groups had been found significantly superior on nonverbal creative ability as compared to the low socio-economic group.
3. The findings suggest that sex is a significant factor of creativity in both cultures.
4. The results obtained on cross-cultural studies had suggested. The positive effects of cultural back-ground on creativity (verbal and nonverbal).

References

1. Guilford, J.P. and Christensen, P.R. 1956, "Factor Analytic Study of Verbal Fluency". Rep. Psychol, Lab. 17, Los Angels University, California.
2. 1959, Three Faces of Intellect", American Psychologist, 14, 469-79. Reprinted in Anderson and Ansubel (1965).
3. 1950, "Creativity", American Psychologist, 14, 469-79.
4. 1975, "Relation of Divergent Production Abilities to Verbal and Nonverbal IG's' J. of Multivariate Experimental Personality and Clinical Psychology.
5. Sharma, S., (1972a) "Basic Components of Creativity" Indian Industries, 16, 1-6, 33-36.
6. Sharma, S. (1972b) :"Creativity As a Function of Intelligence", Psychological Studies, 17, 1, 64-67.
7. (1975) : "Some Personality Characteristics of Female College Students of Different Socio-Economic Background, Ph.D. Thesis, Patna University, Patna, Bihar.
8. Sharma, K.N. (1979) : Dynamics of Creativity, Agra, Nat, Psy Corp.
9. Verma, L.K. (1980) : "A study of locus of control of High and low creative school students at different levels of socio-economic status", Journal of Education and Psychology, 38 (2), 99-104.

Corporate Governance

Shaifali Singh

Corporate governance is the set of processes, customs, policies, laws, and institutions affecting the way a corporation (or company) is directed, administered or controlled. Corporate governance also includes the relationships among the many stakeholders involved and the goals for which the corporation is governed. The principal stakeholders are the shareholders/members, management, and the board of directors. Other stakeholders include labor (employees), customers, creditors (e.g., banks, bond holders), suppliers, regulators, and the community at large. For Not-For-Profit Corporations or other membership Organizations the "shareholders" means "members" in the text below (if applicable).

Corporate governance is a multi-faceted subject. An important theme of corporate governance is to ensure the accountability of certain individuals in an organization through mechanisms that try to reduce or eliminate the principal-agent problem. A related but separate thread of discussions focuses on the impact of a corporate governance system in economic efficiency, with a strong emphasis shareholders' welfare.

There are yet other aspects to the corporate governance subject, such as the stakeholder view and the corporate governance models around the world. There has been renewed interest in the corporate governance practices of modern corporations since 2001, particularly due to the high-profile collapses of a number of large U.S. firms such as Enron Corporation and MCI Inc. (formerly WorldCom). In 2002, the U.S. federal government passed the Sarbanes-Oxley Act, intending to restore public confidence in corporate governance.

Impact of Corporate Governance

The positive effect of corporate governance on different stakeholders ultimately is a strengthened economy, and hence good corporate governance is a tool for socio-economic development.

Role of Institutional Investors

Many years ago, worldwide, buyers and sellers of corporation stocks were *individual* investors, such as wealthy businessmen or families, who often had a vested, personal and emotional interest in the corporations whose shares they owned. Over time, markets have become largely *institutionalized*: buyers and sellers are largely institutions (e.g., pension funds, mutual funds, hedge funds, exchange-traded funds, other investor groups; insurance companies, banks, brokers, and other financial institutions).

The rise of the institutional investor has brought with it some increase of professional diligence which has tended to improve regulation of the stock market (but not necessarily in the interest of the small investor or even of the naïve institutions, of which there are many). Note that this process occurred simultaneously with the direct growth of individuals investing *indirectly* in the market (for example individuals have twice as much money in mutual funds as they do in bank accounts). However this growth occurred primarily by way of individuals turning over their funds to 'professionals' to manage, such as in mutual funds. In this way, the majority of investment now is described as "institutional investment" even though the vast majority of the funds are for the benefit of individual investors.

R.S., B.B.A. Central University, Lucknow

Program trading, the hallmark of institutional trading, averaged over 80% of NYSE trades in some months of 2007. (Moreover, these statistics do not reveal the full extent of the practice, because of so-called 'iceberg' orders.

Unfortunately, there has been a concurrent lapse in the oversight of large corporations, which are now almost all owned by large institutions. The Board of Directors of large corporations used to be chosen by the principal shareholders, who usually had an emotional as well as monetary investment in the company (think Ford), and the Board diligently kept an eye on the company and its principal executives (they usually hired and fired the President, or Chief Executive Officer— CEO).

A recent study by Credit Suisse found that companies in which "*founding families retain a stake of more than 10% of the company's capital enjoyed a superior performance over their respective sectorial peers.*" Since 1996, this superior performance amounts to 8% per year. Forget the celebrity CEO. "*Look beyond Six Sigma and the latest technology fad. One of the biggest strategic advantages a company can have, [BusinessWeek has found], is blood lines.*" In that last study, "*BW identified five key ingredients that contribute to superior performance. Not all are qualities unique to enterprises with retained family interests. But they do go far to explain why it helps to have someone at the helm— or active behind the scenes— who has more than a mere paycheck and the prospect of a cozy retirement at stake.*"

Nowadays, if the owning institutions don't like what the President/CEO is doing and they feel that firing them will likely be costly (think "golden handshake") and/or time consuming, they will simply sell out their interest. The Board is now mostly *chosen* by the President/CEO, and may be made up primarily of their friends and associates, such as officers of the corporation or business colleagues. Since the (institutional) shareholders rarely object, the President/CEO generally takes the Chair of the Board position for his/herself (which makes it much more difficult for the institutional owners to "fire" him/her). Occasionally, but rarely, institutional investors support shareholder resolutions on such matters as executive pay and anti-takeover, aka, "poison pill" measures.

Finally, the largest pools of invested money (such as the mutual fund 'Vanguard 500', or the largest investment management firm for corporations, State Street Corp.) are designed simply to invest in a very large number of different companies with sufficient liquidity, based on the idea that this strategy will largely eliminate individual company financial or other risk and, therefore, these investors have even less interest in a particular company's governance.

Since the marked rise in the use of Internet transactions from the 1990s, both individual and professional stock investors around the world have emerged as a potential new kind of major (short term) force in the direct or indirect ownership of corporations and in the markets: the casual participant. Even as the purchase of individual shares in any one corporation by individual investors diminishes, the sale of derivatives (e.g., exchange-traded funds (ETFs), Stock market index options, etc.) has soared. So, the interests of most investors are now increasingly rarely tied to the fortunes of individual corporations. But, the ownership of stocks in markets around the world varies; for example, the majority of the shares in the Japanese market are held by financial companies and industrial corporations (there is a large and deliberate amount of cross-holding among Japanese keiretsu corporations and within S. Korean chaebol 'groups'), whereas stock in the USA or the UK and Europe are much more broadly owned, often still by large individual investors.

Parties to Corporate Governance

Parties involved in corporate governance include the regulatory body (e.g. the Chief Executive Officer, the board of directors, management,shareholders and Auditors). Other stakeholders who take part include suppliers, employees, creditors, customers and the community at large. In corporations, the shareholder delegates decision rights to the manager to act in the principal's best interests. This separation of ownership from control implies a loss of effective control by shareholders over managerial decisions. Partly as a result of this separation between the two parties, a system of corporate governance controls is implemented to assist in aligning the incentives of managers with those of shareholders. With the significant increase in equity holdings of investors, there has been an opportunity for a reversal of the separation of ownership and control problems because ownership is not so diffuse. A board of directors often plays a key role in corporate governance. It is their responsibility to endorse the organisation's strategy, develop directional policy, appoint, supervise and remunerate senior executives and to ensure accountability of the organisation to its owners and authorities. The Company Secretary, known as a Corporate Secretary in the US and often referred to as a Chartered Secretary if qualified by the Institute of Chartered Secretaries and Administrators (ICSA), is a high ranking professional who is trained to uphold the highest standards of corporate governance, effective operations, compliance and administration.

All parties to corporate governance have an interest, whether direct or indirect, in the effective performance of the organisation. Directors, workers and management receive salaries, benefits and reputation, while shareholders receive capital return. Customers receive goods and services; suppliers receive compensation for their goods or services. In return these individuals provide value in the form of natural, human, social and other forms of capital. A key factor is an individual's decision to participate in an organisation e.g. through providing financial capital and trust that they will receive a fair share of the organisational returns. If some parties are receiving more than their fair return then participants may choose to not continue participating leading to organizational collapse.

Principles

Key elements of good corporate governance principles include honesty, trust and integrity, openness, performance orientation, responsibility and accountability, mutual respect, and commitment to the organization. Of importance is how directors and management develop a model of governance that aligns the values of the corporate participants and then evaluate this model periodically for its effectiveness. In particular, senior executives should conduct themselves honestly and ethically, especially concerning actual or apparent conflicts of interest, and disclosure in financial reports.

Commonly accepted principles of corporate governance include:

- Rights and equitable treatment of shareholders: Organizations should respect the rights of shareholders and help shareholders to exercise those rights. They can help shareholders exercise their rights by effectively communicating information that is understandable and accessible and encouraging shareholders to participate in general meetings.
- Interests of other stakeholders: Organizations should recognize that they have legal and other obligations to all legitimate stakeholders.

- Role and responsibilities of the board: The board needs a range of skills and understanding to be able to deal with various business issues and have the ability to review and challenge management performance. It needs to be of sufficient size and have an appropriate level of commitment to fulfil its responsibilities and duties. There are issues about the appropriate mix of executive and non-executive directors.
- Integrity and ethical behaviour: Ethical and responsible decision making is not only important for public relations, but it is also a necessary element in risk management and avoiding lawsuits. Organizations should develop a code of conduct for their directors and executives that promotes ethical and responsible decision making. It is important to understand, though, that reliance by a company on the integrity and ethics of individuals is bound to eventual failure. Because of this, many organizations establish Compliance and Ethics Programs to minimize the risk that the firm steps outside of ethical and legal boundaries.
- Disclosure and transparency: Organizations should clarify and make publicly known the roles and responsibilities of board and management to provide shareholders with a level of accountability. They should also implement procedures to independently verify and safeguard the integrity of the company's financial reporting. Disclosure of material matters concerning the organization should be timely and balanced to ensure that all investors have access to clear, factual information.

Issues involving corporate governance principles include:

- internal controls and internal auditors
- the independence of the entity's external auditors and the quality of their audits
- oversight and management of risk
- oversight of the preparation of the entity's financial statements
- review of the compensation arrangements for the chief executive officer and other senior executives
- the resources made available to directors in carrying out their duties
- the way in which individuals are nominated for positions on the board
- dividend policy

Nevertheless "corporate governance," despite some feeble attempts from various quarters, remains an ambiguous and often misunderstood phrase. For quite some time it was confined only to corporate management. That is not so. It is something much broader, for it must include a fair, efficient and transparent administration and strive to meet certain well defined, written objectives.

Corporate governance must go well beyond law. The quantity, quality and frequency of financial and managerial disclosure, the degree and extent to which the board of Director (BOD) exercise their *trustee* responsibilities (largely an *ethical* commitment), and the commitment to run a transparent organization-these should be constantly evolving due to interplay of many factors and the roles played by the more progressive/responsible elements within the corporate sector. In India, a strident demand for evolving a code of good practices by the corporation, written by each corporation management, is emerging.

References

1. For a good overview of the different theoretical perspectives on corporate governance see Chapter 15 of Dignam, A and Lowry, J (2006) Company Law, Oxford University Press.

2. Corporate Governance International Journal, "A Board Culture of Corporate Governance, Vol 6 Issue 3 (2003)
3. Crawford, Curtis J. (2007). The Reform of Corporate Governance: Major Trends in the U.S. Corporate Boardroom, 1977-1997. doctoral dissertation, Capella University.
4. SSRN-Good Corporate Governance: An Instrument for Wealth Maximisation by Vrajlal Sapovadia
5. Bhagat & Black, "The Uncertain Relationship Between Board Composition and Firm Performance", 54 Business Lawyer)
6. National Association of Corporate Directors (NACD) – Directors Monthly, "Enlightened Boards: Action Beyond Obligation", Vol. 31Number 12 (2007), Pg 13.
7. Enriques L, Volpin P. (2007). "Corporate governance reforms in Continental Europe". *Journal of Economic Perspectives* 21 (1): 117–140.
8. Theyrule.net
9. The Disney Decision of 2005 and the precedent it sets for corporate governance and fiduciary responsibility, Kuckreja, Akin Gump, Aug 2005
10. TD/B/COM.2/ISAR/31
11. "International Standards of Accounting and Reporting, Corporate Governance Disclosure".

❖❖❖

Civil Society and Parliamentary Democracy in India

Dr. Neelam Kumari Singh

India has claimed the position of the world's largest democracy. Skeptics have seen India's democracy as an Indian rope trick[1], an illusion in which superstructure of democratic government – Parliament and Prime Minister, periodic elections, constitutionally guaranteed freedoms – hides the reality of on-the-ground authoritarian rule by local landlords, bureaucracy, and party bosses, buttressed by a culture of cast based inequality, and sustained by India's continuing desperate poverty. Though, Nehru, the first Prime Minister of India, acted as tutor for India's democracy, making sure to attend Parliament on important occasions, respecting opposition party leaders, and listening to those in power in the states, who were his comrades in the freedom struggle and Congress Party members. The succeeding generation continuously abandoned this practice, loosing the level of tolerance and tact to tackle oft emerging intractable problems before Indian democratic temper.

The paradox of our times is that we hail the victory of democracy while lamenting that Parliament – the central institution of democracy - is facing crisis of legitimacy. The executive branch dominates the agendas, international co-operation and globalization have led to the decision making that lacks democratic control, and people question whether Parliament is really representing the will of the people. Whether current political processes are really able to produce Parliament that can represent Indians' interests in all their diversity.

The preamble of our Constitution begins with the words, "We the people of India". The statement "We the people" implies that the Constitution is the will of the people. Democracy in India, as in most democratic countries, is a representative democracy as the Preamble best puts it.

The Constitution was adopted through the freely elected representatives(in case of Princely states nominated members only). It allows people to ask government to pay heed to their genuine demands and not challenge their authority which may in fact be necessary if government is to be made more effective, accountable and transparent. Here my view is not to launch an anti-democratic attack on representative democracy, but a criticism of its capacity to do the job it is supposed to do; supervise, restrain and control government.

If democracy is the best available form of government and limits of representative democracy prohibits it to deliver a better relationship between citizen and government then what is the way out? There seems to be no other way than that of creating consultative spaces for various groups such as Civil Society Organizations and Non- Governmental Organizations. Recent debates on Lok pal legislation has brought Parliament and Civil Society at cross roads, the former asserting the doctrine of parliamentary sovereignty while the latter demanding engagement of people in the process of decision making and implementation. This essay explores the possible ways of improving the state of governance and policy outcomes by not only increasing the synergy between parliamentary democracy and civil society in India but also ensuring that the quality of both improves. Also, the essay addresses the possible ways to improve the quality of Parliamentary democracy without compromising on the issue of autonomy and accountability as well as quality of governance.

Lecturer, Department of Political Science, R.D.M. Degree College, Chapra

Before going into exploring details of the problems discussed above, let us begin with a precise definition of civil society. To start with, civil society is still a somewhat controversial term, precisely because the ambiguities associated with it. Though it is differently defined by various theorists ranging from Tocqueville to Hegel and Hegel to Marx, the minimal definition would include "those areas of social life – the democratic world, the economic sphere, cultural activities and political interaction – which are organized by private or voluntary arrangements between individuals and groups outside the direct control of the state (Cf. Bobbio, 1985; Pelczynski, 1985; Keane 1988).[2]

Civil Society and Parliamentary Democracy

Relations between Civil Society and democratic political society were probably first explored at length by the French political thinker Alexis de Tocqueville. He believed that through association of people for shared benefits, people are able to build a vigorous civil society operating autonomously in the state.

In basic vocabulary and with a hint of skeptical third world perspective, it is some journalists, well funded human rights activists, NGO entrepreneurs, non profit sector, selected trade unions, politically steered student groups, some professional societies and narrow pressure groups coming together more with the purpose of opposing certain types of governments and their works than truly championing for the welfare of the masses that constitute the civil society. After all, a polity without active civil society would be intolerable, an invitation to the tyranny of the government. For alternative solutions to protect the interests of members of society, the desire and competence amongst group of ordinary people to act collectively to achieve the greater good has led to the rise of 'Civil Society' in providing alternative solutions where the market and the state have failed to deliver. Hence, Tocqueville links civil society with the state where civil associations perform the role of watchdogs in democracy. According to the Walezerian conceptualization, 'civil society' is an uncoerced realm where social affairs are conducted without any interference by the state or market, and that civil society in fact forms the "third sphere", state and market being the first two.

This paper, thus accepting the de Tocqueville ideas and going beyond it to include also the walezerian conceptualization of the third sphere, accepts that it is not enough that there be a civil society independent of the state. For, civil society is not an institution; it is rather a process whereby the inhabitants of the sphere constantly monitor both the state and the monopoly of power within itself. It is not something that once constructed can find for itself. It has to constantly reinvent itself, discover new projects, discern new enemies and make new friends. Therefore, while conceptualizing civil society as the third sphere after the state and the market, the author believes that the range of functions that can be played by this sphere can be captured by the constructions – reconstructions notion wherein civil society can play the role of a watchdog at times and be a counter to the state where needed and even partner with the state to regulate the market if so required and so on. Given the need for civil society initiatives and the presence of the right environment conducive for its functioning, the time is ripe for measures to strengthen civil society in order to improve the quality of governance.

So we can safely claim that civil society by its virtue is the public space where practice of dynamic citizenship in search of general public welfare is conducted. Thus the very concept of civil society and parliamentary democracy is inextricably tied and interwoven. It is that space for the members of the society where government's policies and actions, and everyday problems facing the people are deliberated, individual differences are reconciled so that democratic practices are kept alive.

Growth of Civil Society in India

There are a diverse set of reasons for the growth of civil society organizations in India. Some of the most important reasons include the following :

I. Growing disenchantment of ordinary people with the institution of Government.
II. The declining capacity of these institutions to respond to the diverse interests and expectations of diverse population.
III. The increasing gap between policies and practical elaborations.
IV. The continued persistence of the problems of poverty, social exclusion and marginalization.
V. The growing importance of national and international private business interests.

Parliamentary democracy which stands for good governance as the representatives chosen by the people have the onus to do so, would thus not solely mean reforming the state and the market, reformation of society also needs to be simultaneously taken up. In India, likewise in other democracies, in recent times, civil society has been freed from its earlier restrictions such as obstructions by the governments as well as lack of access to capital, education and communication. Right to information Act 2005 is the result of the efforts of civil society associations has been spreading awareness among the people in one hand and provides a weapon in the hands of civil society organizations on the other to enhance quality of governance by seeking information from the officials of the government at different levels. Now the people have entered the third sphere, i.e., civil society with new ideas.

The unique and powerful aspect of the emerging citizen zeal is that it seeks to adopt globally accepted and advocated standards to local problems and hence formulate solutions that provide real and immediate benefits to the target group of persons. Moreover, civil society organizations are today moving beyond stop-gap solutions to address the problems in the system itself and are seeking collaborations from business, academia and the government. Powerful social initiatives emerging from citizen groups will not only lead to faster implementation, but lead to decentralized thinking and strengthening of parliamentary democracy.

Why can not Parliamentary Democracy in India be Consolidated without a Strong Civil Society?

In the Constituent Assembly a plea was made that India should opt for the U.S. Presidential model of democracy. This plea however could not prevail and ultimately the country adopted a parliamentary democratic system after a "purposive and elaborate debate".

The founding fathers of the Constitution preferred parliamentary democracy and not the U.S. presidential system mainly because India had some experience of operating the parliamentary system of democracy under British rule. Apart from the experience, the question of suitability in the context of specifity of Indian society also weighed in mind. They believed that in the world's most complex plural society, as we have in India, parliamentary government offered better scope for giving representation to various interests and regions. Over and above the founding father's after a long struggle for responsible government and against arbitrary executive authority under British Raj were naturally allergic to a fixed term of irremovable executive. In fact they preferred more responsible executive of the parliamentary system to a more stable executive of the U.S. presidential model. Hence the draft Constitution in recommending the parliamentary system of executive has preferred more responsibility to more stability. The unflinching faith of the people of India, therefore, in the cherished values of democracy forms the bedrock of our parliamentary system. The common man and the neglected lot whose life is a saga of struggle for survival, toil day and night to make both ends meet and yet actively

participate in the election process. It is the unwavering belief of such anonymous Indians that is the key to the survival, sustenance and success of parliamentary democracy.

Civil society movement demands for more state accountability. By exposing abuses of power, raising standards and public expectations of state performance, and bringing political pressure to bear, they can encourage oversight institutions to act, as well as to target and weaken entrenched opponents of accountability. Civil society campaign may also drive the creation of certain institutional checks and balances in the first place. However, though civil mechanism that determine the pattern of civil society influence on horizontal accountability have not been well specified[3].

In brief civil society actors influence horizontal accountability in two main ways: directly by encouraging the creation and empowerment of institutional checks and balances ; and indirectly, by strengthening the institutions of vertical accountability that underpin them such as electoral democracy and an independent media.

Whether Indian Civil Society has Stood the Test

In India civil society organizations today represent, articulate and lobby a wide range of interests and concerns ranging from issue of child labour to the issue of shelter of the urban poor, from Aids prevention to eradicating corruption. However, there has been an insidious emergence of fund gathering by CSOS and NGOs diverting the huge funds received from various organizations in India and abroad for distorted motives, often for making profits. To an extent mushrooming of such fake CSOS and NGOs has undermined the credibility of the civil society organizations and run contrary to the sublime work ethics that sustains robust civil society in any country. Moreover, the fashionable activism as a fad of 'wear on my sleeves' activists, professional contrarians and 'look at me' busybodies do not augur well for the ethical centrality that characterizes the vigorous civil society movements. As the custodian of the social conscience of the democratic citizenship and as an active participant in the social governance, civil society has asserted its place in our public discourse and it is getting increasingly instrumental in molding our democratic structure. It has its role cut out in straightening the crooked timber of our developing democratic society and exceed the Hegelian perspectives on the role of civil society. However, it has to be vigilant against people and groups that threaten to undermine the intellectual integrity, the moral centre and the dignity of service that sustain civil society as a vibrant participant in the social governance lobbied with the government or with industry or petitioned the courts for improvement in the lives of the citizens, as far as that particular subject was concerned.

The initiatives by civil society can be justified on the basis of public scrutiny. Public scrutiny ensures that executive is held accountable and decision making process are accessible to the public. It also ensures that there are opportunities for the public and their representatives to influence and improve public policy. Civil society must understand the difference between what the public is interested in and public interest. There must be some better democratic, not populist way of deciding matters and influencing policy outcomes in a democracy like us. The currents of populism run deep in the country's political life and they too have there own moral compulsions. The Indian state is currently operating through bureaucracy with its Montesquieuan trinity of executive, parliamentary and judicial branches, while civil society can be and is at times uncivil and may behave as a functioning anarchy [4].

The idea that civil society constitutes an Independent sphere of existence may distort our understanding because though we divide spheres of human interaction into segments and accept that human beings act in different ways in different segments, we need to keep in mind that these

spheres are mutually constitutive of each other. Another important aspect in India, is that the state is not a single homogenous entity and hence civil society can not rule out the option of cooperation with the state, since there are bound to be individuals within the state mechanism who are willing to provide support to civil society.

Currently with the launching of anti- graft movement by Anna Hazare and his team, a debate is raging on the role of civil society and popular movements and their impact on democracy. In a recent statement Home Minister P. Chidambaram said, "Elected members can't yield to civil society". Because this might undermine parliamentary democracy.

A beleaguered UPA Government is increasingly trying to discredit mass movements against corruption and passing of Jan Lok Pal Bill, by declaring that civil society can't usurp the right to legislate – a right which in a democracy, is the exclusive preserve of elected representatives. This argument needs to be examined closely because on the face of it, it seems to be premised on well accepted principle of democracy. Are civil society members really holding parliamentary democracy to ransom?

Parliament represents the will of the people. The elected members of the parliament are entitled to legislate in the interest of the people and the nation. There is no question about it. The question is that whether parliament and parliamentarians have the authority to rot the political system by declaring that the right to legislate is exclusive preserve of the elected representatives. Simultaneously, one another question arises is that whether the whole parliament and parliamentarians are a rotten lot and they don't have conscience to respond to the 'general will' of the people. One simple question occupying the mind of an ordinary citizen in the streets in India today is as to whom should he be wary of if not the government which wields great power with great temptation to abuse it. This is so mainly because the motivations and actions of political leaders cannot be known in advance, in a representative democracy, with certainty. Trust, in this regard emerges as one of the most important ingredients upon which the legitimacy and sustainability of political system are built. A certain degree of suspicion on the part of the citizenry is a necessary condition for a healthy democracy. But patience, tolerance and legitimate ways of action have also their role in a polity. Civil society and its representatives must understand that impatience has no scope in a democracy. Overnight changes take place in a totalitarian regime or dictatorial form of government. Democracy takes time to improve and reform itself. Political representatives and political institutions such as parliament, governments and its branches foster and develop its working in a constitutional way with certain degree of mobility. Hence, "no true secular, Socialist, Democratic Republic is operational unless civil society, as an orderly organism, gives broad backing to the state."[5]

Parliament in our polity is the supreme representative institution of the people. And, for that very reason, public perceptions about the functioning of parliament are very important. There is an overwhelming consensus, in the academia and civil society fora on what is called "decline of parliament." This is because during the recent decades, there has been a tremendous erosion in the respect and esteem for parliamentary institutions and the legislators in general. An overview of developments in parliamentary institutions since the first Loksabha reveals some disturbing facts. The number of days on which the Houses of Parliament sit each year and the time that is devoted to transacting business has come down considerably. Even when they do meet, often little gets done. In the face of disturbances and shouting, the Houses have to be adjourned frequently. This is so irrespective of who is in power. There has been distinct change in the content, canvas and culture of debates right from the first Loksabha. Today, parliamentarians are more and more looking at national problems from regional, communal, linguistic or

otherwise parochial angles rather than the other way round. "Right or wrong people feel that the new breed of politicians in all parties are generally, selfish, power hungry, greedy, dishonest hypocrites and power merchants for whom the nation comes last and welfare of the people is at the bottom of priorities. [6]In such condition, castigation of parliamentarians by the civil society and its representatives seems to be a popular reaction and not a hatched friction between them.

Political trust is the central indicator of public's underlying feeling about its polity. It is the judgment of the citizenry that the system and the political incumbents are responsive, and will do what is right even in the absence of constant scrutiny. Do our parliament and parliamentarians stand on this genuine expectations of the masses? The answer is a big 'No'. Our polity has lost both organizational and individual political trust which depends largely on credible policy making.

Corruption arises as one of the most important political factors contributing to the decline of levels of trust in the government. Different political survey results also show that corruption constitutes the strongest predictor of trust placed in remote political institutions directly. There are two important caveats about the relationship of trust and corruption with respect to the legitimacy of the political systems and good governance. One is that it is not good enough for the political leaders and institutions to fight corruption; they should avoid appearing corrupt. The second caveat concerning the link between trust and corruption is that people might trust their government even if there is some degree of perceived or real corruption. In both cases, however, establishing trust requires an open society where citizens are able to debate and question government policies and can have a sense of making a difference in decision making processes. It can't be denied, thus, that the positive impact of civil society participation on good governance can easily be destroyed by the variable of corruption.

Civil Society and Political Establishment Need Each other to Make Parliamentary Democracy Work

"Civil Society is a buzzword wrapped in ambiguity. The media driven mode of advocacy, in immediate context, has helped project it as a utopian monolith expected to cleanse the rot in the political system. Hence, it would be a mistake to romanticize or equate civil society with a movement, for a movement needs to have its own internal logic. Civil societies were existing even before independence. During those times the leaders of the independence movement were political but with symbiotic connections with a vast range of social movements with stated ideologies. Social movements had strong ideological and political differences, but they demonstrated a deep sense of commitment to democratic debate, with fundamental respect for differences and dissents. Some leaders, after independence, took public office, some like Gandhi and Jai Prakas Narayan, did not. Embedded as they were in political discourse, these visionaries believed that sustained change would primarily emerge from participatory democratic process. Leaders do not give birth to movements, on the contrary leaders emerge from them.

In independent India, while it is undoubtedly true that political parties and their leaders are facing a crisis of credibility. But it is also unwise to berate the political class and their institutions for all failures.

There is need to appreciate that the movements launched by civil societies in the past, for enactment of Right to Information Act and Right to work, were passed by the same parliament and due to the efforts made by very ordinary people. What is needed is that issues have to be analyzed and internalized to prepare the grounds to frame an appropriate law. The political class would do well to reform to its socio - political base, and "civil society" to realize its intrinsic value in politics. Democracy demands a

dialectical relationship between the two, to make promise real.

There is always a useful distinction between law and legitimacy: The greater the extent to which ordinary people are engaged with, concerned by and empowered to determine their own political destiny, the more they accept the decision of the state institutions and the more legitimate the law becomes to the people. So to that extent civil society does and should have the influence on law making. But that is not the same thing as saying it should have a direct role. The current debate in India on the role of civil society should be seen in this broader context, but also in relation to the workings of our democratic system. It is, therefore, needed to reconcile civil society, the constitution and parliament in making laws that respond to pressures arising from within our society.

Measures to Improve Corroborative Relationship between Civil Society and Parliamentary Democracy without Compromising Parliament's Autonomy and Accountability

Effective parliaments are essential to democracy. They play a vital role in representing the interest of citizens, drafting, scrutinizing and passing legislation and providing oversight to the executive. It requires active and competent Members of Parliament and the support of an impartial and professional parliamentary service. The capacity of Members of Parliament to fulfill their representative, legislative and oversight roles depends on both their own effectiveness and the support provided to them by parliamentary staff. The capability of parliamentarians, parliamentary staff and parliamentary structures to engage with an active 'civil society' and a robust independent media is also fundamental. In a broader view, civil society organizations of which NGOs are an important part should be recognized as an arena of both collaboration and contention.

Over the last decade there has been considerable increase both in the number of CSOs and in the scope of their activities. They are playing an increasingly developmental role in setting and implementing development agendas. CSOs in India, broadly speaking, are engaged in the following types of work where they need to be impartial, independent and should work in a corroborative manner with the agencies of government.

1. There are CSOs that aim primarily to strengthen the fundamental representative, legislative and oversight roles of parliaments. The range of works carried out by their organizations includes legislative and judicial reform, research on, and development of parliamentary systems and advocacy to encourage parliamentarians to respect the rule of law and follow accountable legislative practices. Some of the CSOs are engaged in participatory public budget development and monitoring in addition to analysis and advocacy on budget reforms.
2. There are CSOS that work to promote Human Rights and Strengthen the independence and integrity of both formal and informal justice systems in order to make them more effective in meeting the need for justice for all. These organizations are involved in a wide range of activities, such as efforts to strengthen human rights and legal systems at national, regional and global levels; human rights monitoring; research; public education; training and protection.
3. There are CSOs that aim to strengthen electoral systems and processes. The range of work carried out by these organizations includes capacity building to strengthen electoral institutions and administration; civic and voter education programs to encourage citizen engagement in elections and government policy making; development of vote registration system; electoral monitoring;

electoral system reform and mobilization and co-ordination of resources for electoral processes.

4. There are CSOs that promote access to information, freedom of expression and the rights to communication and participation in furthering democratic processes. Their work includes research and advocacy to strengthen and protect legal, policy and regulatory frameworks that both promote the above mentioned rights and enable media and e-governance organizations to operate freely.
5. There are CSOs that work on decentralization, local governance and urban/ rural development. It includes organizations that aim to promote and strengthen active links between various stakeholders at national and sub-national levels. It also includes organizations that work on policy development, and advocate right-based approaches to development and active participation by citizens in all aspects of development. The extensive scope of work carried out by these organizations includes advocacy, policy development and monitoring; capacity development; and initiatives to involve poor and marginalized people and other disadvantaged groups.
6. There are CSOs that work to promote greater transparency and accountability of government institutions. The range of works carried out by these organizations includes efforts to strengthen and reform public administrative systems; promoting the rule of law and use of ethical standards across the legal profession among parliamentarians, judges and public sector workers; capacity development for parliamentarians to address corruption and improve accountability for the use of public resources; investigative research, monitoring and reporting on public budget use, corruption, bribery, money laundering and the use of natural resources, to fuel conflicts; campaigns and policy and advocacy work to fight corruption and to raise public awareness and debate on corruption and good governance; activities to support whistle blowers and develop a culture where people can speak out without reprisal.

In discharging all the aforementioned activities CSOs are expected to make sincere attempt to find facts that may work as a basis for decision making in favour of the interest of the polity. Secondly, the CSOs must play their role befitting the manner that may create situation conducive to fulfillment of what the CSOs demand in the interest of the political system. Thirdly, CSOs should create a genuine impression that they are not for their own political gains or otherwise interests rather they work in the interest of the people, the nation and the polity, at large. Fourthly, CSOs should make all efforts to create or launch a determined public movement to exert pressure on the government to pay attention to the issues of public interest raised by them and make proper responsive measures to attain and resolve those issues. Fifthly, all cares be taken by the CSOs to see to it that movement does not go in an undesirable way meaning thereby that the same should not turn violent, unpersuasive and rudderless. Lastly, nothing should be done by the CSOs to create the impression that the movement and its spear headers have least regard for the sanctity of the government, parliament and their members thereof.

Conclusion

Whatever the shortcomings of civil society, one thing is sure, that they play a unique role in our democratic system. It contributes to promote political participation and institute the culture of democracy through public education activities. CSOs are doing this for last several decades by educating

people about the rights and obligations as democratic citizens, and encouraging them to listen to election campaigns and vote in elections. Inputs from civil societies can put a variety of perspectives, methods logics and proposals into the policy arena. Civic mobilization through CSOs can increase public transparency. They can also develop the other values of democratic life of tolerance, moderation, compromise and respect for opposing point of view. Without civil societies, it is very unlikely to have credible and fair elections in today's democratic environment.

Despite all the challenges, all the political stakes we have, I think, we can be really hopeful about the future of our parliamentary democracy if the civil society organizations do things differently and collectively. Thus the role of civil society should neither be romanticized nor demonized rather it should be seen as a framework for sober assessments of our performance to date and possibilities for our future parliamentary democratic structure.

References

1. See Lee Siegel, Net of Magic: wonders and deceptions in India. (Chicago: University of Chicago Press, 1991) for a discussion of the magicians' "rope trick"
2. Quoted from David Held, Political Theory and the Modern State, world view, Maya publishers Pvt. Ltd. 1998, Page No-6
3. For example, Robert Putnam's famous sub national comparative study shows a clear correlation between indicators of civil society density and accountable governance.(1993)
4. V.R. Krishna Iyer, Political State And Civil Society, The Hindu, Feb15, 2002.
5. N.R. Krishna Iyer, "Political state and civil society, The Hindu, Feb 15,2002
6. S.C. Kashyap, "Parliament, reform thyself", The Tribune, September 24, 2005.

Islam, Modernity and Justice for Women

Dr. Anuradha Gautam

Understanding Islam

To understand the relationship between Islam and modernity, it is important to begin with an understanding of the religion itself. Generically, Islam is a religion which brings the mission of liberation and salvation. Islam came to the world in order to bring a set of new morality because of its metaphysical and humanitarian characters. It brings not only vertical dimension teachings, but also horizontal aspects for humanity. It is a teaching deriving from God and oriented toward humanity (Imarah 1998).

Thus, Islam highly respects the dimension of humanity. The presence of Islam as a moral source can be observed in its achievement in transforming pre-Islamic Arabic nomads into civilized communities with values and morality. With the presence of Islam, these communities, being used to living in open deserts and highly susceptible to inter-tribal wars and conflicts, achieved success becoming sensitized to elevated values and morality. Inter-tribal wars and conflict occurred because of their lack of values and morality, which terminated after Islam spread its teachings. The Koran, Muslims' holy book and reference, has manifested itself in a language laden with aesthetics, which has the power to influence the nomads' emotions and awareness in shaping society's humanitarian vision.

Linguistically, Islam derives from the root words implying the meaning of peace, salvation, *maslahah* (well-being) and justice. Islam is a metamorphosis of a three-letter root word (*tsulatsi),* i.e. *salima-yaslamu-salaaman,* meaning safe and peaceful. The four-letter root word (*ruba'i)* namely *aslama-yuslimu-islaman* means to save and to bring peace.

Linguistically speaking, Islam has a very fundamental concern for peace, justice, and well-being. These values should be inwardly internalized by each and every Muslim in the first place. The feeling of being secure and safe in the mind of every Muslim individual is a basic capital for transcending the same feeling to others, making them sensitized to society's needs and interests. This feeling generally grows along with the process of ritualism and ritual practices, which will strengthen one's commitment and vision on the equality of all human beings. Islam teaches that there is no hierarchical structure among Muslims, all are equal before God. The combination of spiritual and ritual practices will produce Muslims who have balanced personalities, inwardly and outwardly, vertically and horizontally.

Islam, Modernity and Modernization

Is Islam compatible with modernity? How do Muslims respond to the continuous change of the world which has grown at a rapid and unprecedented rate in the last century? How do we resolve the problem of maintaining the legacy of the past in our religious tradition and integrate change into society and our lives? How do we introduce change smoothly, which is rare and difficult, without disrupting societies and dislocating values? These are some questions that may trigger a discussion on the relations between Islam and modernity. There are various responses to this problem, depending on our point of view. An economist has one kind of answer, a sociologist perhaps another. A secularist has a certain type of answer, which may be different from a fundamentalist's.

Modernity and modernization are words that are continuously contested in contemporary

Department of Sociology, Magadh University, Bodhgaya

Islamic discourse. Modernization, the introduction into society of the artifacts of contemporary life such as communications, technology, or household equipment, has permeated into virtually all societies including Muslims. But modernity, a way of thought and of living in the contemporary world and of accepting change, as part of political and cultural processes by integrating new ideas into society, may not always be present. One may be using modern technologies and modern communication system, but maintains a past-oriented closed mindset and resists new ideas of modernity such as democracy or pluralism. The opposite can be true; one may lack modern facilities and live traditionally but adopt the attitudes of modernity. These people assume an attitude of enquiry into how people make choices, be they moral, personal, economic, or political. This problem of rational choice is central to modern people. Choice, query and doubt—which imply rationality, debate, discussion and disagreement—are part and parcel of modern mindset.[1]

Muslims' Responses to Modernity

How do Muslims react to modernity? There are several forms of reactions, but for simplicity purpose they will be grouped into two: the reformist/modernist and the fundamentalist. The modernists are devout, knowledgeable Muslims whose mission is threefold: first, to define Islam by bringing out the fundamentals in a rational and liberal manner; second, to emphasize, among others, the basic ideals of Islamic brotherhood, tolerance, and social justice; and third, to interpret the teaching of Islam in such a way as to bring out its dynamic character in the context of the intellectual and scientific progress of the modern world.[2] The modernists sincerely endeavour to reconcile differences between traditional religious doctrine and secular scientific rationalism, between unquestioning faith and reasoned logic, and between continuity of Islamic tradition and modernity.

Reformists/modernists

Many consider Jamal al-Din al-Afghani (1838-1897) as the father of Islamic modernism. He was foremost a belief in the transcendence of God and in reason. Independent judgment and interpretation, the so-called *ijtihad,* is a necessity and the duty of man is to apply the principles of the Qur'an afresh to the problems of the time. He extremely critical of traditional *ulama* (religious scholars) who discouraged any new and creative thought and convinced that this type of medieval mentality was primarily responsible for the decline of Muslim power and influence in the world.

Islam must be active and energetic. Al-Afghani supported this principle by quoting the Qur'an that "God changes not what is in a people until they change what is in themselves.' He argued that Europeans had integrated change, and Muslims must do it in their own way by becoming better Muslims. He thought that Europeans had modernized because they were no longer really Christian; and Muslims, conversely, were weak because they were not really Muslims.[3]

He questioned the division of knowledge into two categories: Muslim knowledge and European knowledge. He argued that knowledge, which is a noble thing, has no connection with any particular group. Islam is the closest religion to knowledge and learning and there is no contradiction between (modern) knowledge and the basic principles of Islam. Al-Afghani strongly recommended acquiring Western knowledge, technology, and services, as long as borrowing from the West was selective and served the basic needs and aspirations of the Muslim people. In this undertaking, which he believed would raise the standard of living of all Muslims, al-Afghani struggled to initiate an Islamic reformation similar to the successful Christian Reformation sparked by Martin Luther.[4]

The seeds for *ijtihad* (logical reasoning) planted by al-Afghani were sustained by his most prominent Egyptian student and ardent follower, Muhammad Abduh (1849-

1905), who insisted that Muslims could improve their lives and their society only by carefully studying the Qur'an in the light of reason and rationality. He taught that the Qur'an gives all Muslims the right to differ even with the *ulama,* if the latter were unreasonable or irrational. Abduh constantly encouraged Muslims to approach problems in the true spirit of Islam: through analysis, reason and logic. Because of his emphasis on reason and rationality, he considered Islam and constructive science twin offspring of reason, which "God gave to guide us in the right path."[5]

The reformers of Islamic thought and practice such as al-Afghan, Abduh, or the more contemporary like Mahmud Muhammad Taha of Sudan, Muhammad Abed Al-Jabri, Ali Shariati of Iran or Abdurrahman Wahid of Indonesia, are knowledgeable not only about Islam but also about modern non-Islamic Western ideas. They believe in the convergence of Islamic and universal ethics and eager to introduce them into their own societies. Hence, unlike the fundamentalists, modernists do not fear or dislike Western ideas and practices. On the contrary, they welcome non-Islamic ideas and practices that they consider beneficial to the progress and prosperity of Muslim societies. They imaginatively synthesize Islamic and Western ideas to produce a reasonable and relevant reinterpretation of Islamic thought with enlightened cosmopolitan, liberal, and realistic perspectives. Modernists believe that this tolerance for diversity and willingness to adjust rapidly to a changing environment contributes to the emancipation of the individual Muslim and to the progress of Muslim societies.[6]

Fundamentalism

Firstly referred to in the U.S. in the early 1920's in connection with the battles of leading evangelical Protestants against liberal and progressive spirits of the age, fundamentalism is now observed to exist in all religions. The term has recently been used reluctantly and apologetically to describe new radical Islamic movements, or to offer substitute terms such as 'revivalists,' 'religious nationalists,' 'Islamic radicals,' 'political Islam,' 'Islamists,' or 'extremists.'

For all the controversy, it is clear that fundamentalism can lead to superficiality and reductionism in one's understanding of the religion. Deeper spiritual dimension of the religion cannot be captured and reflected because fundamentalisms tend to refer to religious texts rigidly and literally. Fundamentalist thinking is no more relevant in the currently fast changing world because human problems are so complex and diverse. Religious texts need to be reinterpreted by putting at the forefront the goal of the religion (*maqasid al-syari'ah).*.

Two tasks are relevant in understanding fundamentalism: to ascertain why it has emerged in the larger cultural-historical sense—what is the common cause with which fundamentalism is associated; and to explain the particularities of its emergence —why here and not there, why now and not then, why among these groups and not those, and so on (Almond 2003).[7] Almond et all categorize fundamentalist move-ments into four: 1) world conqueror, 2) world transformer, 3) world creator, and 4) world renouncer. To the first group they classify, on top, Al-Qaeda. Others include, *inter alia,* the Revolutionary Shi'ism in Iran, the Sunni radical movements in Egypt (Muslim Brotherhood), the Ulster Protestants (sparked by the entrenched ethnic conflict between Scot and English-derived Pro-testants and Irish Catholics), the Sikh militants, and the Sri Lankan Buddhist extremists. Meanwhile, the world transformer group comprises among others of the U.S. Protestant fundamentalism and the Pentecostalism in Guatemala.

Ideologically, fundamentalism is marked by several characteris-tics.[8] First, it reacts against marginalization of the religion. Fundamentalist movements form in reaction to, and in defense against, the processes and consequences of secularization and modernization that have penetrated the larger religious community. Protestants, Catholics, Muslim, Jews,

Hindus, Sikhs and Buddhists are losing their members to the secular world outright or to relativism—the assumption that any given religion is culture-bound and thus relatively true or false. Second, fundamentalists demonstrate moral Manichaeanism, a dualistic worldview which uncompromisingly divides the world into two: the light (the world of the spirit and of the good) and the darkness (the evil). Third, they are selective. For example, they accept much of the modern science and modern technology such as radio, television, computer, and so on but refuse the concepts arising out of modernity such as democracy. Fourth, fundamentalists are absolutist and inerrant. They steadfastly believe in the infallibility of certain religious interpretation and oppose hermeneutical methods developed by secularized philosophers or critics.

Modernity is the common denominator of the outside forces, which is often viewed as an external threat by the fundamentalists. Failure of modernizing secular state is evident by political decay, the decline of politics into authoritarianism, patrimonialism, corruption, and the dissatisfaction with the project of the post colonial secular states. The growing saliency of religion in the politics of countries throughout the world is a struggle for cultural liberation in search for authentic identity, political representation, and more equitable development in third world countries.

The unbalanced pace of modernization and development has led many Muslim countries into developmental crises. The rapid changes through a process of technological, economic, political, social, and cultural innovation, however, have not been followed by the development of their people. In contrast to modernization, development denotes the relative welfare of a nation's population. In most Muslim countries, appropriate development has not happened because it is neither holistic nor healthy. Modernization and development have become paradoxical. Modernization has occurred rapidly, while appropriate development has not. In the West, modernization accompanied the growth of a middle class. Because of its relative success in the West, modernization has become identified with Westernization and secularization.

The unhappy predicament of the nation-building, modernizing, and secularizing Muslim world has given rise to a number of crises, afflicting the fragile nation states of developing world.[9] Of the five developmental crises—identity, legitimacy, penetration, distribution, participation—the identity crises is often the precipitating crisis, triggering political chaos and national catastrophe. Rapid modernization has broken the familiarity of traditional society, uprooting people from their traditional communities and moving them to new social environments where they oft become victims of the development. These conditions are fertile grounds for the breeding of fundamentalism.

Needs to Focus on Women

During the last three decades the world has witnessed a growing process of Islamization or re-Islamization, the application of Islamic principles and values to personal and public life. Along with greater religious observance among many individuals of their prayer, fasting, dress code and so on, there grows as well as the creation of new institution such as Islamic banking, insurance companies, and finance houses. Although many speak of the failure of political Islam, a more widespread and significant reality exists. Islam is becoming a more visible and dynamic force in Muslim life and societies.

While this growing Islamization has had an impact on states, societies, and communities, women seem to be impacted the most. More than anything else, gender-related issues present some of the most difficult and complicated challenges to contemporary Islamic law. Islamic legal system regulating women-related issues, the family law *(al-akhwal al-*

syakhsyiyyah), has remained static and immutable since its codification a thousand years ago. Time and space have changed, and Muslims are currently living in a completely different socio-cultural and political context, but the conventional *shari'a* on gender and women remain unchanged. This same law has been used as a reference on issues like gender relations, polygamy, divorce, inheritance, women's leadership role, etc. which, unsurprisingly, reaffirms the already patriarchal attitudes of many Muslim males. Under the guise of uplifting Islamic law, the war against women is launched demonstrating the misuse and abuse of God's authority in order to impose a suffocating patriarchy among Muslim society. It is imperative that Muslim legal specialists develop critical ways of dealing with these issues.

The resurgence of Islamic fundamentalism in the last decades has been signified most obviously by its perseverance in reviving Islamic doctrines on women's status. Fundamentalists appear to share a common sense of threat from changes in gender relations, triggered by the spread of capitalism and modern concepts of feminism. They believe in the doctrines that put restrictions on women. On the basis of *shari'a* and *kodrat* (nature) women have to be controlled, subjugated and live in the domestic sphere. Hasan al-Bana, founder of Muslim Brotherhood in Egypt, expresses his fear of women's liberation and equality by saying that women's place is the home, and their primary roles are mother, wife, and housekeeper. Social mixing between men and women is prohibited. Another fundamentalist Muslim, Abul A'la al-Mawdudi, founder of Jamiat-I Islami from Pakistan, says that one of the basic human rights is respect for women's chastity. To preserve chastity women must be kept household and in *purdah.*

Cases of discrimination and violence against women in the name of Islam can be documented from worldwide. Experiences of formalization of *shari'a* in Muslim countries like Saudi Arabia, Afghanistan, Sudan, Iran, and other gulf countries show that women are systematically marginalized, forced to veil themselves, may not go out without a guardian, or work in public places. Women are made to become detainees in their husbands' homes.

In Pursuit of Islamic Feminism

"Feminism" is a contested term even in their birthplace, the West. Historical literature is filled with different types of feminists who would certainly find difficulties identifying common ground. Likewise is the notion "Islamic feminism." Scholars and activists are divided in terms of acceptance of this term. Some consider it problematic as they find it impossible to reconcile between Islam and feminism. They believe that the power structure in Muslim societies is so male dominated that the epistemology of Islam is contrary to women's rights. Some activists who truly work to promote women's rights in Islam refuse to be called Islamic feminists because of their reluctance to be identified with Western feminism.

Increasing pressures on women following the Islamist movement have induced the birth of Islamic feminism. Contrary to secular feminists, Muslim feminists keep the faith in the religion and religious teachings while trying to promote egalitarian ethics of Islam by using the female supportive verses of the Qur'an in their fights for women's rights, especially for women's access to education. In Iran the failures of the Islamic Republic of Iran (IRI) to deliver its promise to honour and protect women has led to the emergence of the Islamic challenge, or what the Iranian Muslim feminist Ziba Mir-Hosseini calls "an indigenous locally, produced, feminist consciousness."[10]

In Indonesia, the emergence of Islamic feminism has been triggered by the growing conservatism in the last decades along with the growing Islamism that has threatened women's relatively good position and status in society. This movement neither adopts

Western feminism nor follows Middle Eastern model of gender relations, refuses both secularism and Islamism, and is purely based on values and tradition of Islam prevalent in Indonesia. The ultimate goal of the movement is to pursue justice for women, justice that is promised by Islam to all humankind.

References

1. John Cooper, et al. (eds.) *Islam and Modernity: Muslim Intellectuals Respond,* London: I.B. Tauris, 2000, pp. 2-3.
2. Mir Zohair Husain, *Global Islamic Politic,* New York: HarperCollins College Publishers, 1995, p. 95.
3. Derek Hopwood, "The Culture of Modernity in Islam and the Middle East," in Cooper et al (eds.), *Islam and Modernity,* pp. 1-2.
4. Nikki R. Keddie, *Sayyid Jamal al-Din al-Afghani: A Political Biography,* Berkeley, CA: University of California Press, 1972, p. 141.
5. Husain, *Global Islamic Politic,* p. 99.
6. Ibid, p. 110.
7. For further information, please refer to Gabriel A. Almond, R. Scott Appleby, and Emmanuel Sivan, *Strong Religion: The Rise of Fundamentalisms around the World,* Chicago: The University of Chicago Press, 2003.
8. Ibid, pp. 93-97.
9. Mir Zohair Husain, ibid. pp. 162-177.
10. Ziba Mir-Hosseini, "Women and Politics in Post-Khomeini Iran: Divorce, Veiling, and Emerging Feminist Voice," in Haleh Afshar (ed.) *Women and Politics in the Third World,* London: Routledge, 1996, pp. 142-69.

❖❖❖

L.S.W.

MGNREGA: Issues and Challenges with Special Reference to Bihar and Jharkhand

Dr. Vidyapati Gautam

Abstract

National Rural employment guarantee Act (NREGA) was enacted by the parliament of India in september, 2005 as the most ambitious and largest programme for alleviation of rural poverty and generation of wage employment. It was subsequently renamed as the Mahatma Gandhi National Rural employment Guarantee Act and was put into force as a programme in the selected 200 poorest Districts in its first phase in 2006. In the second phase the programme was further expanded to cover 130 additional districts in the year 2007 and finally in the year, 2008 the programme was made to cover all the rural areas of the country.

Mahatma Gandhi National Rural Employment Guarantee Act took into cognizance the miserable plight of rural households driving then to an unprecedented number of farmers to commit suicide and made provision of a Legal guarantee for one hundred days of employment every year to at-least one member of rural household willing to do unskilled manual work at minimum wages. A member of evaluative studies undertaken so far in this direction, e.g. Chandrashekhar and Ghosh (2009), Lakshman Nirmala (2006) Roabe (2010), CAG Report (2007), etc have on the one hand pointed to the fact that the MGNREGA marks a paradigm shift from the previous programmes and is embedded with the elements of financial inclusion which will work as a vehicle for strengtheing decentralisation and deepening grass root democratic structure, while, on the other loud voices are also raised against the programme pointing to a number of inherent deficiences, leakages, and inconsistencies in the programme. In the backdrop of the cross comments made in favour of and against the most ambitious programme like MNREGA the Present paper purports to evaluate the extent of progress made and the dimensious of various issues associated with the programme in the most backward state of Bihar and Jharkhand. The mainfindings of the study may be summarised in the words such as the state of implementation of the programme in the states under present study in deplorable, where specific operational guidlines are yet to be communicated properly, democratic decentralisation remains farcical distribution of funds amongst the districts is unequal clearance of the projects Prepared by Gram Panchayats are full of hurdles, lack of proper tehnical guidance creats obstacles in preparing project details, technical estimation of the projects remains a difficult task to be accomplished, a gross mismatch between the needs of the community and the actual work undertaken, etc are some of the major challenges faced by the MNREGA in the states.

By properly addressing to the challenges, it has the potentiality of transforming the rural economy in a real manner.

Introduction

Large-scale social safety net programmes such as India's National Rural Employment Guarantee Act (NREGA) are difficult be to implemented due to governance challenges related to elite capture, leakages and corruption. The ability to identify how the governance challenges of programme implementation can be met requires detail insights into the actual process

Director (PR), Dau Dayal Mahila College, Firozabad (U.P.)

of programme implementation with clear views on the sources of leakage and mismanagement, the sensitivity of programme implementation to the influence of different factors, local power structures and informal bureaucratic processes. There is a massive lack of awareness about the Act and its provisions in the field, and even government officials of Bihar are not completely aware of the scheme. Even after the Chief Minister's appeal to officials to provide jobs on demand, there seems to have been no acceleration on their part to issue job cards and start new works. It was only because of the CMs appeal that the official machinery cooperated with CSOs during the NREGA week campaign in July, 2006.

This Act was passed on 5th September 2005 and came into force in February 2006. The NREG programme got launched in the 200 poorest and backward districts of twenty seven states of India abinitio. The programme is seen as significant opportunity by the Government as well as civil organizations to transform rural economy as it guarantees 100 days employment per family, and provide adequate resources for the improvement of infrastructure including productive assets of the village. Many states have moved towards effectively implementing the programme and generating employment for the poor families. The primary purpose of this study is to locate vital issues and challenges during implementation of NREGA with special reference of two states as Bihar and Jharkhand.

Observations and Evaluation

NREGA or MGNREGA as it was named later on is a unique Act which recognizes the legitimate role of Panchayats in addressing their fundamental duty as expressed in the 73rd constitutional Amendiment of providing ''economic development and social justice in the area. The recognition of PRI as the principal agency of implementation under MGNREGA has opened up enormous opportunities for decentralizing development and respecting local solutions to local livelihood challenges. The scheme was expected to cover the entire country within five years.

In Bihar, the campaign covered 1000 villages spread across the poorest districts. Besides, the CSO were successful in filing thousands of application forms, mostly of the Dalits and landless. In Jharkhand, the campaign was spread over 500 villages in 20 districts in its intitial phase.

Among covered states, Bihar has the maximum number of districts under NREGP. It is worth mentioning here that Bihar has declared all districts of the state under the scheme. While 23 districts will be supported by the Union Government, the Government of Bihar will support the remaining 15 districts. Bihar accounts for nearly the largest percentage of rural households among the states after U.P.

As per the norms, the Gram Panchayat Programme Officer should send letters to the applicants informing them where and when to report for work. A public notice has to be displayed at the Grame Panchayat Office and at the Programme Officer block office, providing information on the date, place of employment and the names of those provided employment.[1]

The District Panchayats will be responsible for finalizing the District Plans and for monitoring and supervising the Employment Guarantee Scheme in the district. District Panchayats can also execute works from among the 50 percent that are not to be executed by Gram Panchayats. [2] To perform the assignment efficiently the panchayats representatives and functionaries need to undergo orientation training on various aspects of the Act ranging from micro planning to technical inputs. They also need coordination between all three tiers of panchayats. Further, these institutions need additional functionaries at their disposal. Vertical integration of all three tiers of panchayats is also necessary.

But it became apparent from the facts that neither have the funds been devolved nor has the decision-making process from the departments been fully decentralized. The Gram Panchayats are still dependent on the block level and district level officers.

Table 1: *Release of Centre and State Share for NREGP (in Rs. Lakh)*

State	Release During 2006			
	Centre	State matching share	State's share actually released	Total
Bihar	40503.38	4500.38	4500.35	45003.73
Jharkhand	37618.59	4179.84	4179.81	41798.40

The State government are supposed to create a fund called the State Employment Guarantee Fund, which will receive the grant from the centre. The State Government has to supplement the grant from the centre for implementing the scheme. The state have to provide 10% of the total amount sanctioned for implementation of the scheme. Bihar and Jharkhand government have actually released the states's share. In both states under study the centre and state both released the required funds for proper implementation of MGNREGA.

Table 2: *Expenditure Pattern Under NREGP (Amount in Rs. Lakh)*

State	Cumulative Expenditure				Percentage of Total Expenditure			
	On unskilled Job	On semi-skilled and skilled Job	On Material	On Contingeny	Total	Wayes	Material	Contingency
Bihar	11163.75	2308.26	5473.20	154.481	19599.69	68.74	3048	0.79
Jharkhand	8858.98	1083.21	4075.25	144.13	14161.57	70.21	28.78	1.02

The payment to skilled and unskilled wages is almost 70% of the total expenditure in both states under perview.

There seems to be a complete lack both states but more critical in Jharkhand. In villages some work under NREGA had begun, it was following the same pattern as earlier employment generation programmes, wherein there was no participation of people in selecting the work or mode of execution. The process-Influence Mapping tool help to identify the specific features of the MGNEREGA implementation process that limit the programm's effectiveness and create scope for the misappropriation of funds.[3]

Bureaucratic implementation of the NREGA has by passed the Panchayati Raj Institutions which were intended to play an important role in planning and executing this flagship programme to respond to the local needs of the people. As a result several problems ranging from corruption to poor planning and the arbitrary management of the scheme have crippled the potentially valuable measure to provide sustenance to the rural poor.

Issues of MGNREGA

The programme is based on the issues of using the productive capacity of ordinary rural fold to build and maintain assets, while simultaneously alleviating the problem of unemployment and poverty. The Act provides an opportunity to build rural infrastructure through watershed development, restoration of water bodies such as tanks, ahars and canals, activities aimed at forestry, land development, soil erosion, flood control and construction of roads. Any person willing and able to perform unskilled manual labour at the statutory minimum wage and make a claim which must be met by the local administration within 15 days failing which an unemployment allowance must be provided.

Salient issues of the Act

1. Wages to be paid every week not later than a fortnight.
2. In case of any delay in the payment of wages, labourers entitled to compensation as per the payment of wages Act.
3. No gender bias permitted.
4. Provisions made for compensation and treatment in case of injury and for on-site safe drinking water, care of small children, periods of rest and a first aid box.
5. Contractors and labour displacing machines banned.
6. At least 60 percent of the expenditure under any project to be on wages.
7. At least 50 percent of the projects, in terms of value, to be implemented through the gram panchayats which must prepare a development plan.
8. The programme officer remain responsible for the implementation of the employment guarantee programme in the block.

Challenges

Critics of the MGNREGA have focused on two sets of issues : one, that it is too expensive, and, two, that corruption will prevent its success. The pro-market liberalizers view the MGNREGA as a dangerous piece of legislation that threatens to snowball India's fiscal deficit out of control. However, economist Mihir Shah holds the view that it could actually 'crowd-in' private investment and lay the foundation for non-inflationary growth in the medium term.[4] According to shah, the capacity of the agriculture sector to absorb labour has declined drastically due to a decline in the per capita output of agriculture, which calls for a massive increase in public investment in rural India in the direction of sustainable environmental regeneration. The future of agriculture depends on restoring the health of the many 'public goods' that private agriculture critically depends on.

The other issue of corruption can be dealt through social mobilization by grass-root organizations. As Jean Dreze says, 'legislation alone will not guarantee employment, continuous mobilization is required.[5] The Act empowers citizens to play an active role in the implementation of employment guarantee schemes, through gram sabhas, social audit, participatory planning and other activities. In fact the real significance of the act of directly proportionate to the extent and manner in its provisions are creatively pushed to their limits by the mobilization of the disadvantaged. The MGNREGA can become a major new instruments for galvanizing panchayat raj institutions in India.

Challenges to NREGA Programme Implementation

1. Several states such as Jharkhand have not issued state specific operational guidelines.
2. There was very low awareness among citizens, elected representatives and government officials at levels below block, and this has been a major reason for the flaws in the implementation of the scheme.
3. Maintaining muster roll and distributing wages from the funds received under NREGS in Panchayat account.
4. State's preparedness in handling the National Act.
5. Unequal distribution of funds and the resource utilization in districts.
6. Top down implementation drive adversely affecting local planning.
7. Mismatch of community needs and works undertaken .
8. Inadequate flexibility in guidelines for addressing local issues.
9. Hurdles of technical clearance in Gram Panchyat projects
10. Inadequate support in developing sound technical estimates of civil works.
11. States' response on grassroots difficulties of Panchayats.

Conclusion

If the programme is implemented in the real spirit of the Act, Bihar and Jharkhand states are on track as for as issuing job cards to registered families is concerned. The works being undertaken is labour-based and invariably nearly 70% of expenditure has been on skilled and unskilled labour. The Act improved the rural economic ability to absorb labour leading to better wages. It is based on the principle of self-targeting and would benefit only those in dire need. It was also observed that the people who formed the upper strata of the society were better informed than the workers. Most of the road side Panchayats had walls painted with the main features of the scheme. But the impact of these wall writings cannot be said for sure in predominantly illiterate populations that reside in these villages. The lack of understanding on wage payment rate was creating confusion among the villagers. Often people felt that they were being underpaid for the entire days work. The disabled were refused work, and in some cases people from outside village were given work in that village.

Now it is proper time to discuss different issues and Challenges of MGNREGA and isolate proper solutions for upliftment of rural economy of our country. This study is a preliminary findings, and need much more investigations in this field in near future.

Notes

1. Working of NREGA, voices from Panchayats Mainstream, vol.-XLVIi, No. 15, March, 28,2009.
2. I.S.S., NREGA, Concept Notes, 2008.
3. Roabe, K. et.al, 2010, How to overcome the governance challenge of implementing NREGA, International Policy Research Institute, Washington.
4. Shah, Mihir, 2004, 'National Rural Employment Guarantee Act ; A Historic Opportunity, Economic and Political Weekly, December, 11,2004.
5. Lakshman, Nirmala, 2006, Employment guarantee-signs of transformation, The Hindu, Thursday, May, 11.

Reference

1. Basu, Arnab K, Nancy H. Chau and Ravi Kanbur (2005), The National Rural Employment Guarantee Act of India, 2005, Department of Applied Economics and Management, Cornell University, Ithaca, New York.
2. Grinspun, Alejandro, 2005, Three models of social protection, International Poverty Centre, UNDP, Number, 17, October.
3. Menon, Sreelatha, 2006, why low wages do not pass muster here, Business standard, New Delhi, 9, August.
4. Sood, Tanushree, 2006, NREGA : Challenges in implementation, Infochange, New & Features, September.
5. Vaidyanathan, A, 2005, Employment Guarantee and Decentralization, Economic and Political Weekly, April, 16.
6. Venu, M.K, 2005, Leading Reform is a two-way street, The Economic Times, New Delhi, 6, September.

Forest and Wildlife Vs. Market Economy

Dr. Arun Kumar Suman

Forests and trees outside forests provide a wide range of wood and non-wood forest products. The productive function of forest resources is a common thematic element of all the ecoregional criteria and indicator processes. This reflects an ambition to maintain an ample, valuable supply of primary forest products, while at the same time ensuring that production and harvesting are sustainable and do not compromise the management options of future generations.

Describing the forest resource as a provider of goods has traditionally been one of the main objectives of global forest resources assessments. Earlier assessments focused on timber supply, but the concept of forest production has since widened to encompass all types of wood and non-wood forest products.

Many products are extracted from forests, ranging from wood for timber and fuelwood to food (berries, mushrooms, edible plants, bushmeat), fodder and other NWFPs. By quantity, wood destined for industrial use is the most important product; among NWFPs, food and fodder are the most significant. About half the world's forests are designated for production (as either primary or secondary function) and thus are available to supply wood and non-wood forest products. The total area of forest designated for production does not show any significant trend for the period 1990–2005.

Productive forest plantations represented 1.9 percent of global forest area in 1990, 2.4 percent in 2000 and 2.8 percent in 2005. Currently, there are about 109 million hectares of productive forest plantations in the world. The Asia region accounts for 41 percent; Europe 20; North and Central America 16; South America and Africa 10 percent each and Oceania 3 percent. The top ten countries account for 73 percent of the total area, with China, the Russian Federation and the United States together accounting for more than half the total area of productive forest plantations.

The area of productive forest plantations increased by 2.0 million hectares per year during 1990–2000 and by 2.5 million hectares per year during 2000–2005. All regions show an increase in plantation area, and the highest plantation rates are found in Asia, particularly in China.

It should be noted that these figures refer only to productive forest plantations and do not include the planted component of semi-natural forests designated for productive purposes. Nor do they include plantations established for the protection of soil and water or other environmental purposes.

In 2005 the total global growing stock of forests is estimated at 434 billion m3, which corresponds to an average of 110 m3 per hectare. The countries with the most growing stock per hectare are found in central Europe and some tropical areas.

Total growing stock shows a slight downward tendency – mainly owing to the decrease in forest area. However, some regions also show significant trends in growing stock per hectare, for example Europe shows an increase and Southeast Asia a decrease.

About 202 billion m3 or 47 percent of the total growing stock is considered commercial. Higher percentages in relation to total volume are found in countries with temperate forests and lower ones in those with tropical forests.

Global wood removals in 2005 amount to 2.8 billion m3. About 40 percent isfuelwood (1.2 billion m3), but the proportions vary among

Librarian, Govt. High School, Brahmpura, Muzaffarpur

regions, with Africa reporting 88 percent of removals as fuelwood, while North and Central America reported only 13 percent.

There are no significant global trends in wood removal. Africa reported increased removals while Asia showed a significant decrease. Europe, North and Central America and South America reported only a slight decrease.

Countries usually do not report illegal removals and informal fuelwood gathering, so figures for removals might be much higher. The reported figures on fuelwood removals are particularly weak, as a large part of fuelwood gathering is informal.

Annual wood removals account for about 0.7 percent of total global growing stock and 1.5 percent of commercial growing stock. These figures are indicative, and the figures on removals should not be directly compared with figures on growing stock, particularly at the country level. Removals take place partially outside forests, e.g. in other wooded land and from trees outside forests – particularly fuelwood removals in developing countries – while growing stock estimates refer only to forest area.

There is insufficient information available on NWFPs in most countries, both developing and developed, and they are usually not included in national accounts and trade statistics. Consequently, the figures reported to FRA 2005 are in many cases incomplete, resulting in underestimates of NWFP removals, making it difficult to draw any far-reaching conclusions. However, the figures reported for the period 1990–2005 show a generally increasing trend.

In conclusion, the productive functions of forest resources are of great importance and have not undergone drastic changes during the 15-year period covered by FRA 2005, with the exception of the area of productive plantation forests, which shows a steady increase in all regions and a particularly rapid increase in Asia. Of the remaining variables, some show increasing and others decreasing trends. There are regional variations, but in most cases no clear regional patterns. A few notable regional trends can be seen, however, such as the increase of growing stock per hectare in Europe and its decrease in Southeast Asia. Further, taking under-reporting into account, it can be concluded that substantial amounts of NWFPs are removed annually and that these products play an important role at both local and national levels.

Forest Area Designated for Productive Purposes

This indicates to what extent forest areas have been set aside for production, either by legal prescription or by decision of the landowner or manager. Forest designation is reported in two ways: 'primary function' and 'total area with function'. Forest areas with a specific, designated function considered to be significantly more important than other functions are reported as 'primary function'. All areas with a designated function (not necesssarily primary) are reported as 'total area with function'.

At the global level, 34 percent of total forest area has production designated as its main purpose. In Europe, some 73 percent of forest area has production as the primary function, while North America reported only 6 percent designated for production– instead reporting most of its forests as designated for multiple use. This indicates a clear regional difference in the perception of forest designation.

Trends

The analysis of trends in area of forest designated primarily for production is based on the countries that reported a complete time series (163 countries representing 90 percent of the global forest area). Globally, there is a slight decreasing tendency for area of forest with production as the primary function. Many regions/subregions follow the global trend, while others (e.g. Asia and South America) show an irregular pattern. In the case of Asia, Myanmar adopted a new classification in 2000, adding some 20 million hectares

as primarily designated for production. For South America, most countries are either stable or reporting a steady increase. Peru, however, reported a decrease of about 15 million hectares since 2000.

Productive Forest Plantations

Forest plantations – a subset of all planted forests – are defined as forests of introduced species and in some cases native species, established through planting or seeding, with few species, even spacing and/or even-aged stands. Productive forest plantations are defined as forest plantations predominantly intended for the provision of wood, fibre and non-wood forest products.

Productive plantations can also provide protective, recreational, amenity and other functions, which are not precluded by the harvesting of products. Some forests classified as semi-natural include planted trees of native species, most of which are used for productive purposes. As these forests do not fall under the forest plantation definition, they are not included in this analysis.

References

- Beck, Andrew : *Cultural Work, Understanding the Cultural Industries,* Routledge, London and New York, 2003.
- Berry, J.K. : *Beyond Mapping, Concepts, Algorithms and Issues in GIS*, Fort Collins, CO: GIS World Books, 1993.
- Brady, C. and Lorenz, A. : *End of the Road, the Real Story of the Downfall of Rove,* Prentice Hall Business, Harlow, 2005.
- Davis, Howard and Richard SCASE : *Managing Creativity,* Open University Press, 2000.
- Diehl, M. : *International Trade in Intermediate Inputs, the case of the automobile industry, in Anderton, Robert*, Europe and the United States, Routledge, London, 2006.
- Elangovan K. : *GIS, Fundamentals, Applications and Implementations*, New India Publishing Agency, New Delhi 2006.

Feminine Sensibility in Shashi Deshpande

Dr. Kanchan Jain

All over the world women are suffering with the stigma of inferiority and their identity has always been a matter of question. But we should always remember that though,

"It's a man's world
But it wouldn't be nothing without a woman or a girl."[1] - ***James Brown***

Perhaps this concept is the basic reason of the emergence of the term Feminism which has been defined by the Oxford English Dictionary as,

"The advocacy of women's rights on the ground of equality of the sexes."[2]

According to Alice Jardine,

Feminism is a "movement from the point of view of, by, and for women." [3]

In the contemporary world most of the women writers are working on this subject of Feminism. In the Western countries the process of feminist thought began in the eighteenth century with the emergence of the women writers like Mary Wollstonecraft and Margaret Fuller. Later on Rebecca West, Virginia Woolf, Dorothy Richardson, Simone de' Beauvoir and Germaine Greer "initiated the feminist consciousness movement in Literature."[4] In India too the feminist consciousness started spreading fast. It was definitely the impact of emancipation of women in Western countries. During late eighteenth and early nineteenth century some educated women writers like Toru Dutt, Sita Chatterjee started writing about women and gave a few dimension to the literature. In the beginning their work was undervalued because they were writing about women. Gradually after a long period of struggle these writers achieved their due significance. Till the twentieth century women writers became a powerful medium of feminist statement.

Specially if we talk about the contemporary women novelists the writers like Kamla Markanday, Ruth Prawer Jhabvala, Shobha De, Anita Desai, Shashi Deshpande and Kiran Desai have contributed a lot. The main concern of these novelists was to deal with various issues of women in their literary works, whether it is poetry, short story or novel.

In the present paper I am going to deal with the feminist world created by Shashi Deshpande specially in her novel *That Long Silence.* Shashi Deshpand born in Dharwad, Karnataka in the year 1938, occupies a significant place in the contemporary Indian English fiction. She is the daughter of famous Kannada dramatist and Sanskrit scholar Sriranga. From him she has imbibed influence for writing novels. She has also been influenced by Jane Austen, Charles Dickens, George Bernard Shaw, and other feminists like Simone De Beauvoir, Betty Friedan and Germaine Greer. She began her literary career with *The Legacy and other short stories* a collection of short stories in 1978. Besides this a number of famous novels are to her credit as The *Binding Vine* (1982), *If I die Today* (1982), The *Dark Holds No Terrors* (1980), That *Long Silence* 1988 and A *Matter of Time* (1996). In all these she has concentrated on various problems and social issues concerning women. As she herself admits:

"The stories I wrote then, and the novels that followed, marked me out as a women 'writer' as a woman who wrote about women."[5]

Though, she is a woman writer but she completely rejects the idea of categorization of literature on the basis of men's writing and women's writing, strictly she pronounces:

"Do I as a writer, have to always carry my identity tag of woman round my neck? Why is it relevant".

Department of English, Dau Dayal Mahila College, Firozabad, U.P.

Would the phrase male writer' have been used for a man."[6]

Probably this might be the reason that she goes to the extent of saying that:

"I don't like to call myself a feminist writer. I say I'm a feminist but I don't write to propogate an ism."[7]

Rather she believes as she said :

"My feminism has come to me very slowly, very gradually, and mainly out of my own thinking and experiences and feelings. I started writing first and then I discovered my feminism."[18]

In this connection Naresh K. Jain has rightly said:

"Shashi Deshpande doesn't like to b categorized as a woman writer ..... but I hope she would permit us to say that as a writer she takes us inside the consciousness of women characters and deal with what she herself calls, 'The vulnerability of women, The power of women, The deviousness of women, The helplessness of women, The courage of women. We almost see women's minds in their undress. She is above all concerned with empowering women."[9]

That Long Silence is one of the representative novels of Shashi Deshpande. Generally all her novels are deeply rooted in Indian culture and they present real picture of women as they are. The present text is also not an exception. Published in June 1988, it is the Sahitya Akademi award-winning novel. The novel deals with the story of Jaya, an ordinary middle class educated woman who is presented as an affectionate mother and a devoted house-wife. Here again Mrs. Deshpande has raised her voice against male dominated society. The title of the novel itself suggests the main theme of the text. Jaya, the representative of a traditional Hindu wife, breaks the silence of centuries and speaks a different language in the end. In due course of time of Jaya recognizes her identity and becomes aware of the knowledge of self. In this regard this novel, as Naresh K. Jain says, "best exemplifies the silence speech dichotomy."[10]

The term implies that silence and speech are contrasting words and they signify the journey of a woman's character from silence to speech. This concept has rightly been described by Mr. Naresh K. Jain in the following words:

"Silence speech dichotomy can be useful in locating women on the tradition-modernity axis. How do women characters respond to male hegemony? Is it silence or is it speech? Not to talk back is part of the culturally inherited value of modesty and is considered essentially feminine. In this sense silence is a symbol of oppression, a characteristic of the subaltern condition. On the contrary, speech signifies self-expression and liberation."[11]

This is how the title of the novel itself conveys the message of self- awareness among women.

So far as the character of Jaya is concerned, three phases of her life are portrayed by the novelist :

a. Jaya as a child and a Young girl.

b. Jaya as a married woman.

c. Jaya as a woman with the realization of her own identity.

Jaya the protagonist, has been brought up in a traditional Hindu family where great emphasis is laid on ancient Hindu ethics like -

"In a childhood a woman should be under her father's control, in youth under her husband's and when her husband is dead under her sons. She should not have independence. "[12]

- The Laws of Manu

From the beginning she has been taught the lesson of being patient and humble as she has to prove herself as a good housewife in future. She is compelled to follow the age old saying that:

"The best of the good is for the man and the rest belongs to the woman."[13]

She is scolded by her grand mother for her witty nature thus:

"Look at you for everything a question, for everything a retort. What husband can be comfortable with that?"[14]

She is always reminded of the fact that:

"A husband is like a sheltering tree."[15]

Or

"The happiness of your husband and home depends entirely on you."[16]

A critic has rightly said that:

"Thus the girl is being conditioned towards the comforts of her future husband."[17]

Not only this even her taste for film music was also despised at her home as her father said :

"What poor taste you have, Jaya,[18]

This is to say that she had no liberty to think freely. All her ideas were suppressed. Due to this the shame or shyness that she felt then continued even after her marriage. As a result the silence which began in her childhood, never allowed her to express her feelings.

Jaya, when married to Mohan, perfectly practices the role of a traditional idea of her own existence.

As she herself says :

"I was born. My father died when I was fifteen. It got married to Mohan. I have two children?[19]

As an ideal wife she always takes care of Mohan's wishes and Mohan takes all her services for granted. He lovelingly calls her Suhasini who becomes the symbols of a good house wife. Though she is capable of producing good write ups but she neglects her talent for the sake of her husband. She is quite capable of serious writing but her husband objects this so she indulges herself in writing a safe column entitled Seeta.

Inspite of these things her married life is not happy one.

She finds herself in great tension when her husband gets involved in corrupt practices. His reputation is at stake and he puts the vain excuse that :

"It was for you and the children that I did this, I wanted you to have a good life, I wanted the children to have all those things I never had"[20]

However, in order to avoid the critical situation Mohan and Jaya shift from their church gate flat to a small apartment in Dadar, Here the two people live in deep silence and frustration.

She herself admits that they were just like:

"A pair of bullocks yoked together ..... clever phrase, but can it substitute for the reality? A man and a woman married for seventeen years. A couple with two children a family somewhat like the one caught and presumed for posterity by the advertising visuals I so loved. But the reality was only this. We were to persons. A man, A woman'[21]

Upto this point Jaya become a completely a fragmented self. In such a disturbed condition she tries to find her own identity and realizes that:

"The real picture, the real 'you' never emerges, looking for it bewildering as trying to know how you really look. Ten different mirrors show you ten different faces.[22]

After experiencing the unbearable and monotonous married life with Mohan, Jaya reaches upto that phase of life when she starts realizing her own existence and decalnes that:

"I will have to speak, to listen, I will have to erase the silence between us. While studying Sanskrit drama, I'd learnt with a sense of out rags that right rules did not permit women characters to speak Sanskrit. The anger I'd felt then comes back to me when I realize what I've been doing all these years. I have been speaking Prakrit myself."[23]

The realization of self-knowledge in Jaya is itself the message of the novelist. The following remarks by Sir Max Beerbohm definitely conveys the theme of Mrs. Deshpande's novel.

"Women are a sex by themselves, so to speak."[24]

There is no denying the fact that Mrs. Deshpande has created a wonderful feminine world and the most importantly the novel ends with an optimistic note that there will be some positive action in future. Thus as a critic rightly says :

"The novelist emerges as a bridge-builder between old and the new, between tradition and modernity".[25]

Though sometimes Mrs. Deshpande has been criticized by the critics for the narrow range of her novel because she has dealt with the relationship of a husband and wife.

However the way she has dealt with their relationship and the way she has described the upliftment of character of Jaya that is really praise worthy. In the end only it remains to say:

Though That Long Silence is cast in the feminist frame work, Deshpande does not transgress the limits of Indian Socio cultural reality. As such the novel is of immense relevance to us in the present-day socio-cultural context.[26]

References

1. James, Brown, "song : It's a Man's World", Ed. Judy, Hamilton, *Book of Quotations,* (Geddes and Grosset 2004)p. 400.
2. Oxford English Dictionary.
3. R.S. Pathak, "Shashi Deshpande and Woman Question" *Modern Indian Novel in English,* Creative Books' (Nice Printing Press, Delhi, 1999), p. 196.
4. Sanjukta Das Gupta, "Towards Ecriture Feminine", Ed., R.K. Dhawan, *Feminism and American Literature* (Prestige Books, 1996), p. 7
5. Shashi Deshpande, "Of Concerns of Anxieties", Ed. Naresh K. Jain, *Women in Indo-Anglican Fiction Tradition and Modernity* (Manohar Publishers and Distributors, 1998) p. 33.
6. *Ibid p.*
7. Judith Butler, *That Long Silence : The unavoidable silence of an Indian woman.*
8. R.S. Pathak, "Shashi Deshpande and Woman Question", *Modern Indian Novel in English,* (Creative Books, Nice Printing Press, Delhi, 1999), p. 196.
9. Shashi Deshpande of Concern of Anxieties, Ed. Naresh K. Jain, *Women in Indo Anglican Fiction Tradition and Modernity* (Manohar Publishers and Distributors, 1998) p. 15
10. *Ibid. 25*
11. *Ibid, p. 24*
12. *Ibid, p. 12*
13. Mrs. Shilavati Ketkar, On the soul of the Indian Woman, Vol. II (Tipografia Rangel, 1943) p. 2
14. Shashi Deshpande, *That Long Silence,* (Punguin Books, 1988) p. 27
15. *Ibid p. 137*
16. *Ibid p. 138*
17. A.N. Dwivedi, "Shashi Deshpande's that Long Silence : A Feminist Reading", *Papers on Indian Writing in English* Vol. II (Atlantic Publishers and Distributors, 2002) p. 209.
18. Shashi Deshpande, *That Long Silenc* (Penguin Books, 1988) p. 3.
19. *Ibid p. 2*
20. *Ibid p. 9*
21. *Ibid p. 8*
22. *Ibid p. 1*
23. *Ibid p. 192-193*
24. Sir (Henry) Max (Imilian) Beerbohm, "The Pervasion of Rouge," Ed., Judy Hamilton, *Books of Quotations,* (Geddes and Grosst 2004) p. 400
25. R.S. Pathak, "Shashi Deshpande and the Woman Question", *Modern Indian Novel in English,* (Creative Books, Nice Printing Press, 1999) p. 207.
26. A.N. Dwivedi, "Shashi Deshpande's *That Long Silence :* A Feminist Reading", *Papers on Indian Writing in English,* (Atlantic Publishers and Distributors Vol. II, 2002) p. 217.

Natural Resource Aspects of Sustainable Development in India

Garib Nath Ray

Land, being a subject under the exclusive jurisdiction of States, there is no national legislation, which restricts transfer of productive arable land to other uses. However, State Governments have enacted legislation on the subject, which provides restriction on use of land for non-agricultural purposes.

Decision-Making: Legislation and Regulations

Statutory environmental clearance under Environment (Protection) Act is required for the following types of agricultural development projects and human settlement projects:

- *Agricultural Development Projects*: Major irrigation projects with command area of 10,000 hectares and more.
- *Human Settlement Projects*: Located in the Coastal Regulation Zone. Statutory environmental clearance is required for 30 selected activities in sensitive areas such as Coastal Regulation Zone, Doon Valley, Dahanu Taluka, Murad Janjira, Numaligarh, Aravalli (identified areas in Gurgaon Taluka of Haryana and Alwar Taluka of Rajasthan).

While examining the proposals, the impact of the projects on different Ecosystems, including agricultural lands are examined. The feasibility of avoiding agricultural land for other developmental activities is also examined.

However, there is no statutory restriction in transferring agricultural land for other uses.

In case the lands involved forestland, the project proponent has to obtain clearance under Forest (Conservation) Act for the use of forests for non-forest purposes. In case it involves National parks/Sanctuaries, if the activity is not beneficial to the wildlife, it cannot be taken up in those areas. In regard to human settlements, namely, buildings in the coastal regulation zone, there are restrictions on height, plinth area, drawl of groundwater disturbing the landform, disposal of waste, etc. Further, construction of buildings is prohibited in the sensitive areas within Coastal Regulation Zone.

To ensure availability of effective pesticides, a comprehensive Central Legislation? Insecticides Act, 1968-is being implemented. Central Insecticides Laboratory, Registration Committee, Central Insecticides Board and Regional Pesticides Testing Laboratories are the principal wings for implementation of the Act at the Central level. To save the Indian agriculture from exotic pests and diseases, legislative measures on Plant Quarantine are being enforced through 26 Plant Quarantine Stations located at International Airports, Seaports, Land Frontiers. These Stations also discharge the responsibility of phytosanitary certification to help export of agricultural commodities.

In order to promote the use of safer pesticides and also increasing the export potential of pesticides, the Central Insecticides and Registration Committee set up under the Insecticides Act, further simplified data requirements for both plant origin and provisionally registered neem-based pesticides and bio-pesticides.

The main objectives of the Government's price policy for agricultural produce aims at

Lecturer, Department of Geography,
Jawahar Lal Nehru Memorial College, Nawahi, Sursand, Sitamarhi

ensuring remunerative prices to the growers for their produce with a view to encouraging higher investment and production. Towards that end, minimum support prices for major agricultural products are announced each year, which are fixed after taking into account the recommendations of the Commission for Agricultural Costs and Prices (CACP). The CACP, while recommending prices takes into account all of the following factors:

- Cost of Production
- Changes in Input Prices
- Input/Output Price Parity
- Trends in Market Prices
- Inter-crop Price Parity
- Demand and Supply Situation
- Effect on Industrial Cost Structure
- Effect on General Price Level
- Effect on Cost of Living
- International Market Price Situation (MSP)
- Parity between Prices Paid and Prices Received by farmers (Terms of Trade).

Since liberalization several policy measures have been taken with regard to regulation & control, fiscal policy, export & import, taxation, exchange & interest rate control, export promotion and incentives to high priority industries. Food processing and agro industries have been accorded high priority with a number of important relief and incentives. Wide-ranging fiscal policy changes have been introduced progressively. Excise & import duty rates have been reduced substantially. Many processed food items are totally exempt from excise duty. Custom duty rates have been substantially reduced on plant & equipments, as well as on raw materials and intermediates, especially for export production.

The Committee on Pricing Water (as part of the National water Policy, 1987) deals with rationalizing water rates and have suggested increase in irrigation water rates in a phased manner. The pricing of water for various uses will have to take into account the paying capacity of the users including farmers and large population below poverty line. As for regulations & control, no industrial license is required for almost all of the food & agro processing industries except for some items like: beer, potable alcohol & wines, cane sugar, hydrogenated animal fats & oils etc. and items reserved for exclusive manufacture in the small scale sector. Items reserved for S.S.I. include pickles & chutneys, bread, confectionery (excluding chocolate, toffees and chewing-gum etc.), rapeseed, mustard, sesame & groundnut oils (except solvent extracted), ground and processed spices other than spice oil and olioresins, sweetened cashew nut products, tapioca sago and tapioca flour.

Decision-Making: Strategies, Policies and Plans

The Agricultural Development Strategy was revised in 1999, as the national strategy on sustainable agriculture and rural development (SARD). The Strategy is essentially based on the policy on food security and alleviation of hunger. A regionally differentiated strategy, based on agro climatic regional planning which takes into account agronomic, climatic and environmental conditions, will be adopted to realize the potential of growth in every region of the country. The thrust will be on ecological, sustainable use of basic resources such as land, water, and vegetation, in such a way that it serves the objectives of accelerated growth, employment and alleviation of hunger.

In the accelerated growth scenario for the Ninth Five Year Plan (1997-2002), an agricultural growth rate of 4.5% per annum is expected. Allied sectors such as horticulture including fruit and vegetables, fisheries, livestock, and dairy will continue to register greater growth during the Ninth Plan period. In the Ninth Plan, targets will be achieved through a regionally differentiated strategy based on agronomic, climatic, and environment-friendly conditions. At the macro level, the agriculture development strategy will be differentiated by broad regional

characteristics of an agro-economic character. The northwestern high productivity regions will promote diversification and high value crops, and strengthen linkages with agro-processing industries and exports. The Eastern region, with abundant water, will exploit this productivity potential through flood control, drainage management, improvement of irrigation facilities, and improved input delivery systems. The water scarce peninsular region, including Rajasthan, will focus on efficient water harvesting and conservation methods and technologies based on a watershed approach and appropriate farming systems. Ecologically fragile regions, including Himalayan and desert areas, will concentrate on eco-friendly agriculture.

Animal husbandry and dairying will receive grater attention for development during the Ninth Five Year Plan as this sector plays an important role in generating employment opportunities and supplementing includes of small marginal farmers and landless labourers, especially in rain fed and drought-prone areas. Effective control of animal diseases, declaration of disease-free zones, scientific management of genetic stock resources, breeding, quality feed and fodder, extension services, enhancement of production, productivity and profitability of livestock enterprise will be given greater attention. The growth value of the output from the livestock sector is estimated to be 26% of the total value from the agricultural sector.

References

- Allen, John C. and Dillman, Don : *Against All Odds: Rural Community in the Information Age*, Boulder: Westview Press, 1994.
- Benjamin, Joseph: *Scheduled Castes in Indian Politics and Society*, New Delhi, Ess Ess Publications, 1989.
- Chauhan, M.S. and K.L. Dangi : *Handbook of Rural Sociology*, Agrotech, Delhi, 2010.
- Cronon, William: *Changes in the Land: Indians, Colonists, and the Ecology of New England*. New York: Hill and Wang, 1983.
- Diwan, Jagmohan : *Fundamentals of Rural Sociology*, Cyber Tech Pub, Delhi, 2009.
- Elangovan K. : *GIS, Fundamentals, Applications and Population Geography*, New India Publishing Agency, New Delhi 2006.
- Gies, Frances : *Women in the Middle Ages*. New Jersey: Barnes and Noble, 1978.
- Gurukal, Rajan: *The Formation of Caste Society in Kerala*, Rawat Publications, New Delhi, 1994.
- Harvey, David: *Explanation in Geography*. London: Edward Arnold, 1969.

❖❖❖